प्रकाशक—क्षितीन्द्रमोहन मित्र,
माया कार्यालय,
इलाहाबाद।

मुद्रक—वीरेन्द्रनाथ,
माया प्रेस,
इलाहाबाद।

इलाज

हरीश खाने बैठा ही था कि मुन्नी ने बाहर से दौड़ कर सुनाया—"भैया, कोई आया है, ताँगा खड़ा है।"

हरीश खाते-खाते उठा; हाथ धो, बाहर आया। देख कर विनय को नमस्कार किया। बोला—"और पीछे यह कौन...?"

विनय ने कहा—"अरे, इसे नहीं पहिचाना! चिन्ता है, मेरी बहिन।"

और चिन्ता क्या कहे? साड़ी सँभाल, मुस्करा भर दी। हरीश के नमस्कार का उत्तर दे वह चुप हो गई। फिर विनय हरीश के साथ धीरे-धीरे अन्दर पहुँचा। बीनू ने ताँगे से सामान उतार लिया था। हरीश चिन्ता और विनय के आने की ख़ुशी में अपने को भी भूल गया। कमरे में चिन्ता को ठिठकते देख विनय बोला—"अरे, यहाँ किसका डर है? यह तो अपना घर है। चल, चल, अन्दर चल!" फिर भीतर उसे ढकेलते वह दादी के निकट पहुँचा; झुक कर पैर छुये। दादी ने विनय की पीठ पर हाथ फेरा; बोलीं—"बेटा, ठीक से तो रहे? बहुत दिन बाद बनारस आये और यह...?"

विनय ज़ोर से हँस पड़ा; बोला—"दादी, इसे नहीं पहिचाना; चिन्ता है, मेरी बहिन, जो आपकी माला उठा कर बाग़ में भाग जाती थी।"

"चिन्ता!"

दादी हँस पड़ीं; फिर बोलीं—"इधर आ बेटी, तू तो बहुत सयानी हो गई है। हरीश के जनेऊ के समय तो तू केवल आठ साल की थी।" चिन्ता के मस्तक पर हाथ फेरते फिर बोलीं—"याद है, तुझे मेरी?"

चिन्ता धीरे से हँस दी, जैसे कहना चाहती हो—अरे नहीं!

"घर पर सब लोग अच्छे हैं?"

"जी, आपकी कृपा से..." बोला विनय।

चिन्ता ने नीचे बैठे ही बैठे कहा—"भैया की छुट्टियाँ थीं। आपके यहाँ आने की तैयारी करने लगे, तो मैंने कहा—मैं भी चलूँगी।"

दादी स्नेह-विगलित हो उठीं, और हरीश तो मानो पागल हो गया हो। विनय और चिन्ता को एकाएक आया देख कर, उसे समझ ही न पड़ता था, कि क्या करे। पिछले दिनों उसने उसे वैसे ही लिख दिया था, कि यदि हो सके, तो चले आओ! लेकिन यह चिन्ता...! चिन्ता को देख कर क्यों उसका मन सुख से भर जाता है? क्या हो गया है उसे? आख़िर, क्यों उलझाये है चिन्ता? हरीश काँप गया। भीतर से आकर बोला—"विनय! आओ, चाय पियें।"

हरीश विनय को लिये दूसरे कमरे में आया; देखा—नौकर चाय का ट्रे रख कर चला गया था।

तभी दादी के साथ चिन्ता भी कमरे में आई। हरीश ने इशारा किया; बोला—"बैठिये, एक प्याला आप भी...!"

चिन्ता कुछ न बोली, बुझी-बुझी कुरसी पर बैठ गई। हरीश चाय प्यालियों में डाली, फिर विनय को देकर बोला—"कब खुलेगा कॉलेज जनाब का?"

"आप घबरायें नहीं, हम अभी काफ़ी दिन आपके मेहमान रहेंगे!"

विनय की यह बात सुन चिन्ता हँस पड़ी।

एक ओर बैठी दादी बोलीं—"हरीश! पहिचाना इसे?"

हरीश ने चाय का घूँट उतारते हुये कहा—"हाँ, यह तो चिन्ता रानी हैं!"

चिन्ता ने कनखियों से देखा कि हरीश बहुत देर से उसी की ओर देख रहा था। सीधा-सादा, सरल हरीश बड़ा भला लगा उसे। चिन्ता की आँखें नीचे झुक गईं। अधरों पर जैसे शरीर का रक्त बिखर गया हो—इतने लाल हो उठे थे वे।

और अभी भीतर से मुन्नी आई चिल्लाती—"भैया, खाना ठण्ढा हो गया।"

हरीश जैसे आसमान से गिरा हो। खाने की याद आ गई; उसने कहा—"अब तो विनय बाबू और चिन्ता भी आ गये हैं, साथ ही खाऊँगा।"

मुन्नी चली गई।

बातों-बातों में विनय ने बताया था कि जब से उसने पढ़ने में हरीश का साथ छोड़ा, तब से कितनी जल्दी-जल्दी दर्जे पास करता चला गया। और तभी तो आज वह एम० ए० का विद्यार्थी है—केवल छः साल में एम० ए० फाइनल का विद्यार्थी! कोई साधारण बात थोड़े ही है। दिन भर पढ़ना, न खेलना, न कूदना। मस्त, इधर-उधर घूमनेवाले हरीश का साथ छोड़ देने पर ही तो वह इतना सब कुछ हो पाया है।

विनय ने अनुभव किया कि चिन्ता और दिनों की अपेक्षा आज अधिक प्रसन्न है। सफेद गालों पर हलकी मुस्कान की लालिमा दौड़ आई है, और आँखों में एक विशेष चमक पैदा हो गई है।

और निकट बैठी हुई चिन्ता सचमुच ही आज बहुत प्रसन्न मालूम हो रही थी। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें बार-बार हरीश की आँखों से टकरा जाती थीं। कहीं कुछ न था केवल वह हँस भर देती थी। हरीश निगाह फेर लेता था लजा कर।

नौकर फिर आया और बोला—"खाना तैयार है।"

हरीश विनय और चिन्ता को लेकर उठ आया। दादी ने थालियाँ परोसीं।

चिन्ता ने चुपचाप साथ-साथ खाना शुरू किया। खाते-खाते विनय बोला—"दादी को क्यों कष्ट दे रहे हो? अब की इलाहाबाद से भाभी को ले आऊँगा, मैं।"

भाभी का नाम सुन कर हरीश ज़ोर से हँस पड़ा, बोला—"अभी क्या होगा भाभी का!"

"भाभी तो आयँगी ही!" चिन्ता ने धीरे से बात जोड़ी, ठीक वैसे ही, जैसे कोई विद्यार्थी मास्टर के सामने ग़लत उत्तर देने में जल्दी करता है।

विनय और हरीश दोनों हँस पड़े।

× × ×

एक दिन शाम को चिन्ता यों ही निकल पड़ी घूमने। पास ही थोड़ी दूर पर सामने पार्क था। हरी-हरी घास बहुत सुन्दर लग रही थी। पानी अभी-अभी बरस कर रुका था। फूल की डालों से बूँदें चू-चू कर नीचे गिर रही थीं, जैसे जगत्-नियन्ता ने स्वयं अपने हाथों मोतियों के वृक्ष लगा दिये हों, और जो अब हवा के हलके झोंकों से नीचे गिर रहे हों! आसमान साफ़ हो चला था। सारा वातावरण मन को मोह लेने वाला था। आकाश पर इन्द्र-धनुष सतरंगे पंखों को फैला कर छा गया था। बादल का एकाध टुकड़ा सफ़ेद बर्फ़ के समान इधर-उधर हवा में घूम रहा था। चिन्ता की आँखों में प्रकृति की सुषमा ने एक हलचल पैदा कर दी थी। रह-रह कर हरीश की शकल सामने खिंच जाती थी। थकी-सी वह एक ओर जाकर बेञ्च पर बैठ गई। और तभी हरीश आया न जाने कहाँ से घूमता-फिरता।

आते ही बोला—"अरे, आप!"

चिन्ता चौंक पड़ी।

हरीश को देख कर उठने की कोशिश की; पर हरीश के मना करने पर फिर बैठ गई। निकट आकर हरीश बोला—"कहिये, आपको बनारस कैसा लगा?"

"जी, बहुत अच्छा लगा है मुझे।" चिन्ता ने उसी भाँति नीचे ताकते हुए उत्तर दिया।

"देखिये न, यह फूल कितने सुन्दर लगते हैं, जैसे बस, बोलना चाहते हों! और यह हरा-लाल मखमल का-सा...!"

"मुझे यह सब बहुत अच्छा लग रहा है!"—अनजाने कह दिया चिन्ता ने।

चिन्ता को लगा, हरीश आज बहुत खुश है। एक सप्ताह में कभी भी वह इतने निकट से न बोल पाई थी उससे ; कहा—"आज आप बहुत प्रसन्न मालूम होते हैं ?"

हरीश हँस दिया। चिन्ता भी हँस पड़ी।

हरीश फूल तोड़ने में जुट गया। चिन्ता बैठी सोचती रही कि यह हरीश भी कैसा है। भैया ने तो कभी भी इनका नाम नहीं बताया था; केवल कहा करते थे कि बनारस में एक दोस्त हैं। तब क्या इन्हीं का ज़िक्र किया करते थे। लेकिन मुझे क्या हो गया है ; मेरे हृदय में यह तूफ़ान कैसा उठ रहा है ? क्यों हरीश की ओर वह तेज़ी से खिंच रही है। पहले तो ऐसा नहीं होता था। हरीश की भावनाओं में इतना उलझ गई चिन्ता कि उसे पता ही न चला कि कब फूल तोड़ते-तोड़ते हरीश उसके पीछे आकर खड़ा हो गया। चौंकी तो वह तब, जब हरीश ज़ोर से हँस पड़ा। चिन्ता ने देखा, पीछे बालों में दो गुलाब के बड़े-बड़े फूल उलझे हुये थे। बाल ठीक करती थोड़ा हँस, वह बोली—"आपने यह क्या किया ?"

"मैंने !"

"हाँ ! पुजारी पर कहीं भगवान् भी फूल चढ़ाया करते हैं ?"

अब हरीश ने सारे फूल चिन्ता पर फेंक दिये, फिर खूब गम्भीर होकर कहा—"भगवान् ही यदि अपने पुजारी की पूजा न करेंगे, तो और कौन करेगा ?"

पानी फिर बरसने को आ गया। चारों ओर बादल घने होकर छा गये थे। अँधेरा बढ़ रहा था। चिन्ता उठ कर खड़ी हो गई। हरीश भी चुपचाप चल दिया। रास्ते भर कोई किसी से न बोला। कौन जाने दोनों मूक रहते हुये भी हृदय की सब से स्पष्ट भाषा में कितनी ही महत्त्वपूर्ण बातों का फैसला कर रहे थे। दोनों के ही दिल धड़क रहे थे, जैसे कोई तूफ़ान आनेवाला हो।

"बीनू, चिन्ता बीबी के खाने का प्रबन्ध कर दे।"

"बहुत अच्छा !"

"और देख, विनय बाबू भी आते ही होंगे, उनके लिये भी। और मेरे लिये भी···!" बाहर से आते ही हरीश ने कहा।

दादी हँस पड़ीं। फिर कहा—"तेरे ऐसा लापरवाह तो देखने में नहीं आया। घर में आये मेहमान, और तू है, जो न जाने कहाँ मारा-मारा फिरता है। न खिलाने की फ़िक्र, और न पिलाने की चिन्ता। देख, बेचारी चिन्ता का फूल-सा चेहरा पन्द्रह दिनों में ही कैसा कुम्हला गया है...!"

हरीश चौंका।

चिन्ता के दुःख की बात थी, सीधे मन में लगी। सच ही तो दादी कह रही हैं। इन दिनों कैसा उसका चेहरा उतर गया है। वह काँप कर भीतर आया। देखा, चिन्ता

अस्त-व्यस्त सोफे पर पड़ी है। दूध के समान सफेद चेहरे पर एकाध लट बिखर आई है, जैसे कहीं से चाँद का एक छोटा-सा टुकड़ा किसी ने लाकर रख दिया हो; और ओंठों पर कुछ ऐसी लालिमा बिखर गई है, जिससे वह और भी सुन्दर दीखने लगी है। हरीश बड़ी देर तक खड़ा विधि की इस अपूर्व सुन्दरता को निहारता रहा। सहसा दादी ने पुकारा—"चिन्ता !"

चिन्ता की निद्रा टूटी। हड़बड़ा कर उठ बैठी। सामने हरीश को देख, लज्जा से कट गई। साड़ी ठीक कर बोली—"आपको अभी सरला पूछ रही थी।"

"सरला !"

बात हलके दोहराई थी हरीश ने। सोचा—सरला क्यों आई थी, जब उसने कहला दिया था कि वह दो-तीन दिनों में स्वयं आवेगा। तब फिर क्या काम पड़ गया उसे ? पिता के देहान्त हो जाने पर, अपनी माँ को ले सरला उसी के घर पर आ बसी थी। और हरीश सरला से कब अपने को रोक सका था। खूब सुख लगा था उसे पाकर। भोली-भाली अल्हड़ सरला ने मन उसका जीता था। दादी ने कहा था एक दिन—'हरीश ! सरला को अपना ले, ऐसी लड़की भाग्य से ही मिलती है !' और देखा हरीश ने भीतर जाती हुई सरला के मुँह पर हलकी हँसी बिखर गई थी। जैसे सरला की समझ में ही न आया हो कुछ, ऐसी वह बन गई थी। कितना ध्यान रखती थी वह उसका। एक दिन वह ज़रा बीमार पड़ा, तो दूसरे ही दिन सरला को लोगों ने उदास पाया। हरीश ने सिर में दर्द होने की शिकायत की, तो सरला 'यूडीक्लोन' की शीशी ले आई। पट्टी भिगो कर मस्तक पर रखी, आहिस्ता से बिस्तर के अति निकट आकर बोली—"ओफ, आप दर्द की शिकायत करते हैं। भला, आपको दर्द न होगा, तो क्या मुझे होगा !" फिर बिस्तर पर से किताबें सरकाती बोली—"जब अच्छे हो जाइयेगा, तब पढ़ियेगा !"

सरला ने किताबें उठा कर आलमारी में रख दीं।

हरीश उसकी ओर देख, केवल हँस भर दिया था।

चार दिन बाद वह आफ़िस जाने की तैयारी करने लगा, तो देखा—सरला सीधे तन कर दरवाज़ा रोके खड़ी है। अधिकारपूर्ण स्वर में बोली थी वह—"आज नहीं आप आफ़िस जायँगे !"

"क्यों ?"

"सरला का हुक्म है। देखिये न, अभी आप कितने कमज़ोर हैं ! कल ही तो बुख़ार टूटा है। ज़रा भी फिकर नहीं करते आप अपने स्वास्थ्य की। यदि कहीं कुछ हो जाये, तो...!"

आगे सरला की आँखें भर आई थीं। उन बड़ी-बड़ी, काली-काली आँखों की वह अवहेलना करे भी तो कैसे? जैसे बरसात उमड़ आई हो, ऐसी हो गई थीं वे आँखें। हरीश थक कर बैठ गया कुरसी पर। वह क्या करे, कैसे कहे सरला से कि आज आफ़िस जाना ज़रूरी है? हरीश को बैठा देख कर निकट दौड़ आई, फिर कोट उतार खूँटी पर टाँग दिया था उसने। चारपाई बिछा कर बोली—"अभी आप आराम कीजिये, मैं जाती हूँ!"

इस सरला के सामने हरीश हार गया है। सरला ने अपने अनुराग की एक गहरी, स्पष्ट रेखा खींच दी थी हरीश के मन पर।

दो महीने बाद सरला के एक निकट सम्बन्धी आकर, हरीश और दादी के अत्यधिक मना करने पर भी उसे अपने यहाँ ले गये। वह महाशय किसी स्कूल में अध्यापक थे। शहर में ही दूसरा मकान ले रखा था। एक धुँधली सन्ध्या में सरला जब दादी के पैर छूकर अपनी माँ के साथ विदा होने लगी, तो हरीश कमरे में बैठा न रह सका था। दूर, बहुत दूर, एक स्वप्न-सी विलीन होती सरला को उसने रोते-बिलखते खिड़की के सींखचों के उस पार, जहाँ दुनिया का प्रत्येक प्राणी स्वतन्त्रता-पूर्वक चल-फिर सकता था, जाते देखा था।

चिन्ता को वैसे ही खड़े देख, अब हरीश चौंका, अपने में आया। सरला का विचार भंग हो गया, फटे हुये बादलों के सफेद गोलों की भाँति भावनाओं के थपेड़ों से बहुत दूर उड़ गया जैसे!

और चिन्ता?

भारी, उदास, गहरे अन्धकार से पूर्ण मन लिये चिन्ता कमरे से निकल आई थी। सोचती—यह सरला कौन है? हरीश के मानस-तरु पर क्या उसने भी कभी अपना नन्हा-सा घोंसला बनाने का इरादा किया था? क्यों हरीश उसकी विचार-धाराओं में आया? तभी मन में एक छोटा, बहुत छोटा बुलबुला उठा और सरला के नाम के साथ हरीश के मन के निकट पहुँच, फूट गया। चिन्ता चकित, विस्मित, गम्भीर थी। जो आँधी अनायास सरला उठा लाई थी, उसे कैसे हटाये चिन्ता? चिन्ता ठिठक गई, कुरसी का सहारा लिया। गिरते-गिरते बची!

"क्या हो गया, चिन्ता?" पूछा हरीश ने।

"कुछ नहीं, यों ही चक्कर-सा आ गया; तबीअत ठीक नहीं है।"

हरीश दौड़ कर निकट पहुँचा; बोला—"डॉक्टर को बुलाऊँ?"

चिन्ता ने कमरे की कड़ियों की ओर देखते हुये कहा—"डॉक्टर मेरा इलाज नहीं करेगा!"

हरीश आश्चर्य-चकित रह गया। बोला—"तुम क्या कहती हो, चिन्ता?"

चिन्ता चुप रही। क्या कहे वह? कैसे कहे, दिल में दर्द पैदा हो गया था। बोली—"डॉक्टर मेरा मर्ज़ नहीं पहिचानेगा!"

हरीश चिल्लाया—"चिन्ता!"

और अब चिन्ता ने व्यथा से मुँह दूसरी ओर फेर लिया था। आँखें उसकी भर आई थीं, बरसात उमड़ आई थी, जैसे अब रोई—अब रोई।

"हरीश भैया!" मुन्नी आ गई थी, बात टूट गई। वह बोली—"विनय भैया बुलाते हैं।"

हरीश चिन्ता को छोड़ दूसरे कमरे में आया। देखा, विनय सामान बाँध रहा है। देखते ही बोला—"यह तैयारी कहाँ की हो रही है, भाई?"

विनय हँस दिया; बोला—"अब तो छुट्टी खत्म हो गई!"

"ओह, तो यह कहिये कि जनाब तैयारी कर रहे हैं जाने की।"

विनय ज़ोर से हँस पड़ा—इतने ज़ोर से कि भीतर बैठी बिल्ली चौंक कर बाहर भागी, और झपट कर दूर निकल गई। एक ओर से दादी बोलीं—"मैं तो रोकते-रोकते थक गई। कहती हूँ, तार ही दे आओ।"

हरीश ने दादी का सहारा पाया, निकट पहुँच, विनय का बिस्तर खोलते हुये बोला—"चलो भाई, तार दे आयें, अभी आये हो। कम से कम पन्द्रह दिन तो और रुको।"

अन्दर नज़र गई। चिन्ता ने हँस कर मुँह फेर लिया था। पोस्ट आफ़िस से जब वह लौटा, तो देखा, चिन्ता ने साड़ी बदल ली थी। हलके नीले रंग का कामदार ब्लाउज़ और पैरों में चप्पल, बहुत उलझती लगी चिन्ता। हरीश ने देखते ही पूछा—"शहर चलियेगा?"

चिन्ता हँस कर अन्दर भाग गई कहती—"भैया से पूछिये; मैं क्या बताऊँ?"

आखिर शहर का प्रोग्राम बन गया।

चिन्ता ने कहा—"मुझे साड़ी लेनी है।"

विनय बोला—"मुझे घड़ी का फ़ीता बदलवाना है।"

ताँगा आ गया था। हरीश विनय और चिन्ता के साथ चल दिया शहर की ओर। रास्ते भर हरीश विनय से घुल-घुल कर बातें करता रहा। जैसे बस, आज के बाद विनय मिलेगा ही नहीं। बातें करते-करते हरीश कनखियों से चिन्ता को देख लेता, चिन्ता हँस कर नीचे देखने लगती, ऐसा उसे कुछ भी मालूम नहीं है।

शहर आ रहा था। दूकानें शुरू हो गईं।

हरीश ताँगा खड़ा कर, विनय और चिन्ता के साथ उतर पड़ा। एक कपड़े की दूकान पर जाकर चिन्ता खड़ी हो गई। साड़ी लेनी थी; दूकानदार ने साड़ियों का

ढेर लगाना शुरू किया। चिन्ता बारी-बारी से साड़ियाँ देखती जाती थी ; बीच-बीच में हरीश की ओर देख, साड़ी बिलकुल अपने सामने कर—जैसे पहिने हो, बहुत धीमे स्वर में पूछ भी लेती—"कैसी लगती हूँ !" और हरीश के 'बहुत सुन्दर' कह देने पर एक विचित्र गुदगुदी दौड़ जाती उसके दिल में, आँखें चमक उठतीं, और सुर्ख ऐसी हो जाती, जैसे पके सेब ! तभी किसी ने पुकारा—"हरीश ?"

हरीश चौंक पड़ा। यहाँ कौन परिचित है, जो उसका नाम लेकर बुला रहा है ? किन्तु स्वर कुछ पहिचाना-सा लगा। और तभी खड़ी हो गई भीड़ से आकर एक भोली-भाली अल्हड़ युवती। हरीश ने संकुचित होकर कहा—"अरे सरला—तुम !"

सरला खिलखिला कर हँस पड़ी। बोली—"माँ के साथ आई थी चप्पल लेने। आपको देखा..." फिर चिन्ता का हाथ पकड़ कर कहा—"अरे, चिन्ता आप भी...!"

चिन्ता ने केवल मुँह फेर कर कहा—"हाँ !"

मन उसका बैठा जा रहा था। एकाएक जो आग सरला लेकर आ पहुँची थी, वह अब जल रही थी—ऐसी, जिसमें चिन्ता की दुनिया ही खाक हुई जा रही थी ; जैसे यदि उसके पंख होते, तो एक पंछी की तरह वह फुर से उड़ कर इस आग से बच जाती। घना अँधेरा छा गया था—जैसे रात ही हो गई हो। गिरते-गिरते कई जगह बची चिन्ता ; आँखें उसकी भर आई थीं।

सरला ने हरीश के बिलकुल निकट पहुँच कर, उसे छूकर कहा—"आप रुकें, मैं अभी आती हूँ ! माँ से कह दूँ, वह प्रतीक्षा कर रही होंगी, तब चलूँ !"

और इसके पहिले कि हरीश कुछ बोले—सरला भाग कर भीड़ में खो गई। जब निकली, तब पाया इन्तज़ार करते उसी स्थान पर हरीश को ताँगे में बैठे, विनय और चिन्ता के साथ। प्रसन्नता से उसका मन नाच उठा। कितने दिनों के बाद उसने इतने समीप से देखा है हरीश को ! सरला चुपचाप चिन्ता के निकट पिछली सीट पर बैठ गई। ताँगा चल दिया।

और चिन्ता का विचित्र हाल था। मुँह उसका एकदम सफेद हो गया था, जैसे बर्फ का एक छोटा टुकड़ा हो। यह देख हरीश ने पूछा—"तबीअत क्या ठीक नहीं है चिन्ता...?"

"जी, कुछ ऐसा ही सिर में दर्द है !"

सरला चौंकी। हरीश को देखा, और वह तो बराबर चिन्ता की ही ओर देख रहा था। सरला अपने में खो गई थी। मन उसका खूब धुएँ से भर गया था ; फिर भी बोली—"दीदी, लेट जाइये, आपका सिर दबा दूँ।"

और चिन्ता क्या कहे? जी करता था कि कहीं दूर—बहुत दूर भाग कर पहुँच जाय। कहाँ उसके हृदय को चैन मिलेगा? शायद कहीं भी नहीं। मर्ज़ तो बिलकुल उसके निकट सरला का रूप लेकर बैठा था। चिन्ता को चुप देख, मस्तक पर हलके हाथ रख कर सरला बोली—"क्या हो गया है आपको?"

"मुझे!"

चिन्ता की घायल, मूक आँखें एक बार ऊपर उठीं, जैसे सरला की नस-नस में घुस कर वह उसका भेद ले लेंगी। काँप गई सरला। धीरे से ओंठ काट लिये। उसके बाद रास्ते भर कोई बात नहीं हुई।

ताँगा जब हरीश के दरवाज़े पर पहुँचा, तो बहुत देर हो गई थी। घरों में चिराग़ जल चुके थे, और बाहर दरवाज़े पर बैठे कुत्ते किसी आहट को पा बार-बार भौंक कर चुप हो जाते थे। ताँगे से उतर कर चिन्ता हरीश, सरला और विनय के साथ अन्दर गई। फिर जल्दी ही खाना खाकर सोने की तैयारियाँ होने लगीं।

और सरला को रात भर नींद नहीं आई। रह-रह कर हरीश और चिन्ता की सजीव छाया में धुएँ के समान कुछ आकर आँखों में फ़ुहारें छोड़ जाता था। तो क्या सच हरीश अब...! सरला कैसे लेटे? अब वह उठ कर बैठ गई थी। जी न लगा—दरवाज़ा खोल बाहर आई। पास ही हरी-हरी घास पर टहलती फूलों से भरे गमलों के निकट आई। आसमान साफ़ हो गया था। चाँद निकल आया था। दूर तक सफेद चाँदनी बिछी थी शीतल, सुखद। हरीश के कमरे से हलका प्रकाश आ रहा था—लगा, जैसे हरीश कुछ ज़ोर-ज़ोर से बोल रहा हो। साहस कर निकट पहुँची। खिड़की खुली थी। देखा, हरीश चारपाई पर लेटा था और सामने बैठी थी एक युवती। प्रकाश के उस हलके पुञ्ज में भी सरला ने चिन्ता का वह गोरा, सुडौल चेहरा पहिचान लिया। सरला पाषाणवत् हो गई, वहीं खड़ी रह गई। चक्कर आते-आते बचा उसे। दीवार का सहारा न लेती, तो शायद गिर पड़ती। दबे पाँव धीरे—बहुत धीरे अपने कमरे की ओर बढ़ी।

सुबह जब लोगों ने उसे देखा, तो बहुत तेज़ बुख़ार चढ़ आया था। हरीश घबरा गया। क्या हो गया है सरला को? दौड़ा-दौड़ा डाक्टर को लाया। फिर सिर-हाने बैठ, मस्तक पर हाथ फेर पूछा स्नेह से—"कैसी तबीअत है, सरला?"

सरला चुप रही।

और बाहर से चिन्ता ने देखा—हरीश सरला के सिरहाने बैठा है। आँखें उसकी सजल हैं, और ओंठों पर एक विचित्र प्रकार का भाव फैला है। चिन्ता पाषाणवत्

हो गई हो जैसे, वहीं खड़ी रह गई। चक्कर आते-आते बची वह। दीवार का सहारा न लेती, तो शायद गिर ही पड़ती। दबे पाँव धीरे—बहुत धीरे बढ़ी वह अपने कमरे की ओर।

दूसरे दिन जब हरीश डॉक्टर को लाया, तो लोगों को पता चला कि चिन्ता को भी बहुत तेज़ ज्वर हो गया है।

हरीश और विनय दोनों ही दवाई कर रहे हैं। रोज डॉक्टर बदले जा रहे हैं। उनका कहना है—सरला और चिन्ता को कोई गहरा मानसिक धक्का लगा है।

डॉक्टर रोज़ आता है। चिन्ता और सरला का टेम्परेचर लेकर दीवार पर टँगे चार्टों पर नोट कर देता है। कौन जाने, मन की गरमी भी यह थर्मामीटर नाप सकता है? बहुत दिन हो गये हैं, सरला और चिन्ता का इलाज उसी प्रकार हो रहा है; अन्तर केवल इतना हुआ है कि डॉक्टर बदल दिये गये हैं। न जाने कब तक सरला और चिन्ता अच्छी होंगी। अच्छी होंगी भी या नहीं?

इलाज चल रहा है।

अब टेम्परेचर नहीं रहता, किन्तु मन पर एक भारी उदासी से भरी बीमारी डॉक्टर बताते हैं।

इलाज अब भी चल रहा है!

अधूरा चित्र

वीणा कपड़े बदल कर आ गई थी ; बोली—"चलिये ।"

और अजित ने सिगरेट के दो-तीन पैकेट जेब में डाले, फिर खड़ी हुई वीणा की आँखों में ताक कर, थोड़ा हँस कर वह बोला—"आज तो आप बहुत. . .!"

और वीणा ने हँस कर बात काटी ; कहा—"बस, लगे आप बनाने !"

अजित हँस पड़ा ।

वीणा आश्चर्य-चकित रह गई । आख़िर, अजित के मन में है क्या, जो ओंठों तक आकर भीतर रह जाता है । उस तूफ़ान को वह कैसे देखे ? कहीं स्नेह का नया छोटा-सा बुलबुला तो नहीं है उसके मन में, वही बुलबुला जो शादी के तीन दिन बाद उसने कमल के अन्तर में उठता पाया था ? आख़िर, वह कहता क्यों नहीं साफ़-साफ़ कि वीणा, तुम्हें देख कर मन न जाने कैसा हो गया है । हाँ, ठीक ही तो है, मन की सिकुड़न को देखा है तुमने, वीणा ! जिस दिन से आया हूँ, एक मिनट को भी चैन नहीं । मन ऐसा भारी और आतुर रहता है कि बस, मत पूछो ! तभी जैसे धीमे से छुआ हो किसी ने उसे । चौंककर देखा वीणा ने—उसकी छोटी बहिन थी । वीणा को देख कर अजित को एक विचित्र सुख का अनुभव हो रहा था । एक मास हो गया था उसे यहाँ आये; किन्तु वीणा को इतने निकट से उसने कभी भी नहीं पढ़ा था । केवल दूर-दूर से उसकी छाया को छूकर उसने जाना था कि वीणा अनजाने ही उसे विशेष प्रिय लगी है । एक दिन दफ़्तर से लौटा, तो देखा, कमल की चिट्ठी थी—'वीणा की देख-भाल अब मुझसे नहीं हो पाती । तीन माल हुये हैं, खाँसी कुछ कम है । हाँ, छाती में दर्द होता रहता है । वीणा को यह पहाड़ी बहुत पसन्द आई है । तुम आ जाओगे तब निश्चिन्त हो जाऊँगा । माया और बच्चे को लेकर किसी प्रकार दिन कट जाता है । रात में वीणा के समीप मन फैला देता हूँ । फिर भी लगता है, जैसे मेरा अन्त आ गया है ।' और अजित पहली ही ट्रेन से तो चला आया था ।

अजित ने अब सिगरेट जला लिया था । पास खड़ी नारी वीणा की भावनाओं में बड़ी देर तक वह बहता रहा । फिर आगे आ बोला—"चलिये, घाटी उतर कर थोड़ी दूर घूमा जाय ।"

वीणा विमुग्ध थी, जैसे किसी ने मन्त्र से कील दिया हो। नीचे मैदान था इधर-उधर पहाड़ियों से घिरा हुआ वह स्थान बड़ा रमणीक लग रहा था। पास ही एक छोटी-सी झाड़ी के किनारे आकर अजित बोला..."देखिये, कितनी सुन्दर है!"

वीणा ने आगे बढ़ कर उसे छूते हुये कहा—"लेकिन यह काँटे?"

काँटों ही में तो सौन्दर्य होता है।

वीणा खिलखिला कर हँस पड़ी।

तभी अजित ने कहा—"हाँ, याद है वह गान, वीणा?" और बिना किसी उत्तर की प्रतीक्षा के ही धीरे-धीरे वह गुनगुनाया—

"घर-घर में दिवाली है,
मेरे घर में अँधेरा!"

और यह क्या? स्वर रुका, तो देखा अजित ने, वीणा की बड़ी-बड़ी आँखें खूब सजल हो आई थीं। वह बोला—"वीणा!"

किन्तु वीणा फूट-फूट कर रो रही थी।

अब अजित ने उसका हाथ अपनी हथेलियों में लेते हुये कहा—"मैंने आपका मन दुखाया है। मुझे क्षमा कीजिये!"

अजित के स्पर्श से वीणा चौंकी नहीं। केवल धीरे से हाथ छुड़ा कर आँसू पोंछ लिये। कमल भी तो कभी-कभी जब शकुन्तला की याद मन में नहीं समेट पाता था, तब यही गाना गाता था। कई बार घण्टों इन पंक्तियों को दोहराने के बाद वह रात में सोई हुई वीणा को वैसे ही छोड़, पहाड़ियों के नीचे—बहुत नीचे उतर जाता था। और बहुत देर बाद जब वह वापस आता, तब वीणा पाती कमल की आँखों में बड़े-बड़े आँसू; मन में पीड़ा और मस्तक में तूफ़ान! अजित का उसने क्या बिगाड़ा है, जो उसने उसकी पीड़ा जगा दी है? यत्न से दबाये हुये घाव को उसने छेड़ा क्यों? खूब-खूब दर्द हो रहा था वहाँ। बोली वह—"अजित बाबू! आप नहीं जानते मुझे यह गाना कितना पीड़ा देता है! मैंने बहुत बार चाहा कि मैं इस गाने से दुखी न होऊँ; किन्तु न जाने क्यों, ऐसा नहीं कर पाती। कितना घना अँधेरा फैलाता है यह गीत?" वीणा ने एक हलकी आह भरी।

और अब अजित ने भावनाओं के सहारे इस निकट आती वीणा को खूब समझने की चेष्टा की। फिर वीणा की अँगुलियों को छूकर बोला—"सच, यह गीत आपको इतना अप्रिय है, मैं नहीं जानता था। किन्तु वीणा, कभी-कभी गीत से मन का मैल निकल जाता है। एक अभाव का सहारा पाकर गीत मन में अपना एकान्त स्थान बना लेता है।"

अजित चुप हो गया। वीणा ने अपना हाथ अब छुड़ा लिया था।

चारों ओर अन्धकार छाने लगा था। वीणा बोली—"चलिये, अब घर वापस चला जाय। आपके भाई साहब इन्तज़ार करते होंगे।"

अजित उठ कर खड़ा हो गया। मार्ग में वीणा बोली—"शकुन्तला को आपके भाई बहुत प्यार करते हैं!"

"बहुत—आपसे भी अधिक!"

वीणा कट गई। निरुत्तर रही वह। थोड़ी देर बाद कहा—"उसी की याद में दिन भर निकाल देते हैं, कई चित्र बनाये हैं उसके। और मैं तो कहूँगी कि यह जो भयङ्कर बीमारी उन्हें लग गई है, वह शकुन्तला की ही देन है। भला, आप ही बताइये, इस प्रकार घुल-घुल कर कौन रह सकता है?"

"लेकिन वीणा...!"

वीणा ने बात काटी, कहा—"आप नहीं जानते, मिस्टर अजित! यह हृदय सन्नाटा नहीं सह सकता। या तो इसमें प्रकाश रहेगा, और नहीं तो फूल की कोमल पँखुड़ियों की भाँति यह सूख जायगा। तुम्हारे भैया के सामने मैंने जब-जब शकुन्तला का नाम लिया है, तब-तब वे फूट कर रोये हैं। और यह गाना, जो अभी-अभी आप गा रहे थे, जानते हो कितनी बार रात-रात भर तुम्हारे भैया ने इसे गाकर पीड़ायें समेटी हैं?"

अस्त-व्यस्त वीणा का हृदय भर आया था। जो दुख अनायास अजित का गीत फैला गया था, बातों का सहारा देकर वह हलका होता न लगा।

घर पहुँचकर वीणा सीधे अपने कमरे में चली गई। अजित ने नमस्ते किया। उस दूर होती गई वीणा को वह निहारता रहा। वीणा ने कमरे में देखा, मेज़ पर झुका कुरसी का सहारा लिये कमल बैठा है। मुँह उसका बिलकुल पीला हो गया था। हाथ-पैरों में केवल हड्डियाँ ही शेष थीं। रह-रह कर खाँसी आ जाती थी। निकट ही रङ्ग से भरी छोटी-बड़ी प्यालियाँ और ब्रस लापरवाही से पड़े थे। मेज़ पर फैले काग़ज़ पर बने हुये चित्र को वह पूरा करने में लगा था। वीणा निकट पहुँची। कुरसी के पीछे खड़ी होकर बड़ी देर तक काग़ज़ पर अध-बने चित्र को निहारती रही। एक अपूर्व और अविकसित नारी फैली थी काग़ज़ पर। वीणा का मन भर आया। बड़ी देर बाद कमल ने जो सुस्ताने के लिये कुरसी में पीठ टेकी, तो वीणा को देख, चौंक कर बोला—"तुम कब आईं, वीणा?"

वीणा ने मेज़ पर की प्यालियों को हटाते हुये सामने आ, थोड़ा हँस कर कहा—"मेरे स्वामी! अपने लिये न सही, तो कम से कम मेरे लिये तो इस शरीर का ख़्याल

कीजिये। कल रात ही तो आपकी छाती में भयङ्कर दर्द हुआ था। सुबह खाँसी भी खूब आई थी। जाने कितना विरानापन छिपाये हैं आप अपने मन में! यदि मैं न आती, तो न जाने कितनी देर तक आप यों ही बैठे रहते...।" कहते-कहते वीणा ने कमल के दोनों हाथ पकड़ लिये, फिर उन्हें धीरे-धीरे अपने गालों से लगाकर बोली—"देखिये कितने गर्म हैं! मैं जो कहती थी, आपको बुख़ार होगा। चलिये, लेटिये, चल कर!"

कमल ने इनकार न किया। चुपचाप उठ कर वीणा के साथ चल दिया।

रात में वीणा ने सुनाया, वह अजित के साथ घूमने गई थी। खिलखिलाता अजित उसे बहुत भला लगा था और वह गीत, वीणा को अब सहारा देने लगा। स्वामी के सीने में तब वह बच्चों की भाँति चिपक गई, फिर भी कमल ने अनुभव किया कि रात भर वीणा काँपती रही है।

इस पहाड़ी प्रदेश में कमल को आये छः मास हो गये हैं। इस बीच वह कुछ स्वस्थ हो चला है। यद्यपि खाँसी अब भी कभी-कभी ज़ोर पकड़ लेती है। टेम्परेचर भी हो आता है, फिर भी वीणा को अनुभव हुआ, जैसे वह अब पहले की अपेक्षा अधिक स्वास्थ्य-लाभ कर रहा है। किन्तु पहाड़ी जल-वायु, डॉक्टर की तत्परता और वीणा की देख-भाल के बीच भी कभी-कभी कमल के मन में एक हलके से दर्द का अंकुर फूट पड़ता था। तब कई-कई दिन वह बहुत बेचैन रहता था। खाँसी भी बढ़ जाती और सीने में दर्द अधिक होने लगता। शकुन्तला की याद बिखर जाती। वह सत्रह साल की अस्त-व्यस्त नारी उसे ख़ूब उलझती लगती तब। मन में लगा—वह नारी अनजाने ही अपना सब कुछ दे गई थी एक दिन। और यों ही न जाने किस प्रकार शकुन्तला ने एक दिन उसके मन में पंख खोलकर छोटी-सी उड़ान भर दी थी।

सौदामिनी की बात भी वह कहाँ तक टालता? अपने रिश्ते को वह स्वयं समझती थी—ख़ूब? उस सौदामिनी ने उसके लिये कोई सुख उठा कर नहीं रखा। घूमते-फिरते एक हफ्ते के लिये वह उसके घर भी पहुँच गया था। एक दिन रात को बड़ी देर से घर आया, तब सौदामिनी ने सवालों की झड़ी लगा दी थी। फिर स्नेह-विगलित हो कमल के बिलकुल निकट पहुँच कर थोड़ा-सा हँस, उसके सिर के बालों को ठीक करते बोली थी—"आपको मेरा भी कुछ ख़्याल है?"

सौदामिनी की बहुत-सी बातें उसके पास जमा हो गई थीं। उस निकट खड़ी सौदामिनी को तब उसने खींच कर बाहों में कस लिया था, और स्नेह तथा आतुरता का सहारा पा, उसकी बड़ी-बड़ी आँखें सजल हो आई थीं।

और एक सन्ध्या को सौदामिनी की आँखें किसी ने बन्द कर ली थीं पीछे से

आकर। स्पर्श की कोमलता से सौदामिनी चौंक पड़ी थी। फिर हलके टटोल कर बोली थी—"बिन्नी, पुष्पा, सरला !"

और तब एकाएक खिलखिला कर किसी ने उसकी गोद में बैठते हुये कहा—"अरे ! नहीं, मैं हूँ शकुन्तला।"

सौदामिनी खिलखिला कर हँस पड़ी।

"तू भी ख़ूब है, भैया कहाँ हैं तेरे ?"

"वह क्या बाहर से सामान ला रहे हैं ?"

शकुन्तला एक घायल पत्ती की भाँति सौदामिनी के सीने से चिपक गई। फिर बोली—"एक भी पत्र नहीं भेजा मुझे, और भैया...!"

सौदामिनी ने हँस कर शकुन्तला के गालों पर एक हलकी चपत जड़ दी, वे और भी सुर्ख हो गये।

और तभी भीतर से आ गया कमल !

शकुन्तला को देख, वह ठिठक गया। गोरा शरीर, इकहरा बदन, पैरों में चप्पल ; बड़ी सुन्दर लगी वह। और तभी कमल को देख, उसकी ओर इशारा कर बोली सौदामिनी—"इन्हें जानती हो ?"

शकुन्तला चौंकी। अपने प्रति कहे गये वाक्यों की मीमांसा वह क्यों करे ? सँभल कर गोद से नीचे उतरते बोली—"नहीं !"

और तब बताया सौदामिनी ने—"यह हैं मिस्टर कमल ! आप के भैया के बड़े दोस्त !"

शकुन्तला ने उठ कर निकट पहुँच, धीरे से कहा—"नमस्ते !"

कमल धीरे से मुस्करा दिया।

तभी सौदामिनी बोली—"और एक बात बताऊँ ? यह बड़े भारी चित्रकार हैं !"

खड़ी हुई सौदामिनी की ओर देख कर बोली थी शकुन्तला—"तब तो आपकी अवश्य ही...!"

"चुप !" सौदामिनी नाराज़-सी हो गई थी। बोली—"यह हैं शकुन्तला, मिस्टर कमल ! और आप हैं दुष्यन्त। कहीं उन्हीं की भाँति...!"

शकुन्तला ख़ूब खिलखिला कर हँस पड़ी थी।

और कमल ने तब शकुन्तला का मुँह लज्जा से लाल होता पाया था। रात खाना खाते बताया था सौदामिनी ने—"शकुन्तला की यह भाभी लगती है। चार दिन हुये, वह अपने घर गई है।"

रात भर कमल को नींद नहीं आई। रह-रह कर शकुन्तला का अल्हड़ चित्र आँखों में झूल उठता था। तब क्या वह सौदामिनी को केवल एक सहारा मात्र ही मान ले? कैसा खेल आख़िर खेल गई है सौदामिनी उसके निकट! शकुन्तला की बड़ी हरिणी के समान चंचल आँखें उस शून्यता को भंग कर देती थी। जैसे कहना चाहती हो—"मैं क्या जानूँ, और आप मेरे पीछे इतनी बुरी तरह से क्यों पड़े हैं?"

अब कमल ने उठ कर खिड़की खोल दी थी। साफ़ चाँदी की चादर-सी बिछी थी दूर तक। उसी चाँदनी में शकुन्तला का स्वर धोखा दे रहा था।

उस एकान्त रात में तभी कई चिट्ठियाँ उसने लिखीं शकुन्तला को। फिर वे सब झूठी लगीं। फाड़ डाला एक-एक कर उन्हें। अन्त में एक चिट्ठी लिखी—

"शकुन्तला,

मुझे क्षमा करना! जी में तुम एकदम समा गई हो—इतनी कि सच, उसमें तनिक भी स्थान अब शेष नहीं है। चाहता था, चलते समय मिल लेता, किन्तु ..। मेरी याद रखना, अच्छा! वैसे मैंने अपना सब कुछ देने में बहाना नहीं किया है। मेरी प्रतीक्षा मत करना। सौदामिनी ने जो खेल खेला है, इन प्रमाणों के निकट उसे कैसे भुलाऊँ? मैं इसी रात से जा रहा हूँ।

—कमल"

और उसी रात कमल चुपचाप अपना कोट पहिन कर वहाँ से चल दिया था।

चार महीने बाद एक दिन सौदामिनी ने लिखा—

"शकुन्तला को छोड़ कर यों ही चले जाओगे, यह सोच कर शकुन्तला फूट-फूट कर रोती है। आख़िर क्या था, जिसे आपने हम लोगों को बताया भी नहीं? शकुन्तला की शादी की बात-चीत चल रही है; किन्तु वह बराबर इनकार कर रही है! मेरी इच्छा है कि जब आपने अपने मन को उसके लिये उठा कर नहीं रखा, तब शकुन्तला वहाँ क्यों न स्थान पाये? बहुत दुबली हो गई है वह। आपका नाम बराबर लिया करती है। क्या आप उसे यों ही रहने देंगे? बोलिये, उत्तर दीजिये।"

और पीछे एक माह बाद शकुन्तला की चिट्ठी थी—

"सौदामिनी ने जो खेल खेला है मेरे साथ, उसे कैसे भुलाऊँ? आपको ठीक से देख भी न पाई। आपका पत्र पास है। जब मिलियेगा, तब ख़ूब झगड़ा करूँगी—अभी नहीं।"

कमल ने लेटे ही लेटे लैम्प बुझा दिया। फिर तकिये से मुँह छिपा कर फूट-फूट कर रो पड़ा।

अब कमल को ख़ूब खाँसी आने लगी थी। हलका टेम्परेचर भी हो आता था।

सारा शरीर सूख कर लकड़ी-सा हो गया था। कभी-कभी रात में खूब प्यास लगती थी। और दिन चारपाई पर लेटे-लेटे निकल जाता था। पीछे कई महीने बाद डॉक्टरों ने पहाड़ पर ले जाने की सलाह दी। और वीणा को लेकर वह इसीलिये तो यहाँ आया था।

रात वीणा ने अनुभव किया, कमल बराबर पीड़ा से कराहता रहा है। रह-रह कर एक हलकी, किन्तु तेज़ चीख़ जैसे अनायास ही निकल पड़ती थी। और सवेरे डॉक्टर ने आकर कहा—"वीणा देवी, किसी और डॉक्टर को भी दिखा लीजिये, तो अच्छा हो।"

"डॉक्टर!" वीणा गिरते-गिरते बची। समीप के कमरे से अजित ने आकर सँभाला।

और तभी कमल को फिर ज़ोरों से खाँसी आई। बाहर के एक व्यस्त हवा के झोंके ने सहसा प्रवेश कर मेज़ पर फैले उस अधूरे चित्र को उड़ा कर एक ओर गिरा दिया। अजित ने चित्र उठा कर मेज़ पर फिर से जमा दिया। बड़ी देर तक चित्र पर वर्णी अपूर्ण नारी को वह निरखता रहा। तब अपने निकट भारी दुःख घिरता पाया था उसने। अजित ने देखा, कमल इशारा कर रहा था। वीणा से बोला—"आपको बुला रहे हैं।"

और वीणा ने तब निकट पहुँच कर कमल के मस्तक पर हाथ फेरते हुये कहा—"आप ठीक हो जायँगे, स्वामी!"

और उत्तर में कमल फूट-फूट कर रो पड़ा।

शकुन्तला की याद ताज़ी हो गई थी शायद। वीणा ने लेटे हुये स्वामी के सीने में मुँह छिपाते हुये कहा—"आप यह सब क्या कहते हैं, स्वामी?"

लेटे हुये कमल ने अब अनुभव किया कि यह वीणा भी बहुत मँहगी पड़ी। फिर उसे हृदय से सटाते बोला—"चित्र अधूरा रह गया, वीणा! उसे शकुन्तला को दे देना।"

सहसा बीच में वह झुक गया; बड़े ज़ोर से खाँसी आई थी। वीणा ने चरणों पर सिर रख दिया था। अब वह फूट-फूट कर रो रही थी।

और तभी हलके—बहुत हलके सुना वीणा ने—कमल गा रहा था—

'घर-घर में दिवाली है, मेरे घर में अँधेरा!'

वीणा चरणों से और भी ज़ोर से लिपट गई थी, जैसे कहीं वह उठ कर भाग जायगा। फिर उसके दोनों हाथ पकड़ कर बोली—"मेरे देवता! इतना तो न करो...!"

किन्तु कमल गाता ही रहा—गाता ही चला गया।

प्रकाश की खोज

निर्मल ने खिड़की खोल दी। घने फैले हुये दूर तक अन्धकार में वे चमकती बिजली की बत्तियाँ और भी प्रखर हो उठीं। उनके चारों ओर सीमित प्रकाश से बिलकुल लगा हुआ अँधेरा! खीझ कर निर्मल ने खिड़की बन्द कर दी। अब वह अपने जीवन की मीमांसा कर लेना चाहता था—बस! जीवन, जिसमें नारी प्रकाश लेकर आती है। ठीक उन बाहर की बत्तियों की भाँति जगमगाहट होती है उस जीवन में। कितना अन्धकार दूर करता है वह प्रकाश! किन्तु प्रकाश के समीप ही अँधेरा...निर्मल सोते से जागा हो जैसे। अन्धकार की बात देर तक मन को उलझाती रही। तब प्रकाश का महत्त्व क्या धोखा-मात्र है? बहुत-बहुत-सी बातें आकर निर्मल के सामने फैलने लगीं। उसकी चलती-फिरती दुनिया में अनेक स्मृतियाँ पंख लगा कर न जाने कहाँ से आ गई थीं। और तभी निर्मल के मन को जैसे किसी घने अन्धकार ने छू लिया हो! रेखा जैसे सामने बिखर गई, खिली-खिली। विचार का बाँध टूट गया था। तब क्या था कि किसी दिन यौवन में सिकुड़ती, लाज से गड़ती इस रेखा के समीप ही अन्धकार है। कॉलेज की चहारदीवारी में बैठे-बैठे अनायास ही उसका नाम मन में जुड़ने लगा था। निर्मल ने कोई बहाना नहीं बनाया उसके सामने।

यह नाम बार-बार पास बिखरता, दो काली-काली बड़ी भोली आँखों की रचना करता-सा लगा निर्मल को। माँ के मुँह से सुना हुआ नाम, जब पानी की तरह उसके रोम-रोम में बहने लगा, तब कहीं निर्मल को इसका ज्ञान हुआ। और एक दिन इसी ज्ञान से प्रेरित होकर उसने अन्य सम्बन्धियों के मना करने पर भी जाने क्यों रेखा को अपना जीवन सौंप देने का निश्चय कर लिया।

छुट्टियाँ हुईं, तो वह माया के घर आया था। सोचा, चलो, दस-पाँच दिन वहीं रह आये। एक सवेरे सोकर उठा कि बरामदा पार करते उस झिलमिल प्रकाश में एक हलका-सा धक्का लगा। तभी जैसे किसी ने कहा—ओ,,! आप हैं, माफ़ कीजियेगा।"

अनायास-स्पर्श की उस सिहरन से निर्मल का मन डूब गया; बोला झटपट—"आप कौन हैं?"

"जी, मैं रेखा...!"

और हँस कर खिलखिलाती हुई वह भीतर भागी। वह सुन्दर नारी मन बँटाती लगी निर्मल को।

दो दिन बाद निर्मल के कहने-सुनने से माया ने फ़ोटो खिंचवाने की तैयारी की। दोपहर से सब ने खाना खाया। शाम को लॉन में फ़ोटो खिंचवाने की बात तय हुई। ताँगा मँगाया गया, अन्य लड़कियों के साथ रेखा भी बैठी। अगली सीट पर निर्मल था। लड़कियों के बीच रेखा का वह अस्त-व्यस्त गौर शरीर मन बुझाता लगा। बड़ी सुन्दर दिखाई पड़ी रेखा उसे। जल की शीतल लहर के समान रेखा का सौंदर्य निर्मल के हृदय को छू गया। जैसे किसी ने मन्त्र-मुग्ध कर दिया हो, ऐसा हो गया वह। रास्ते में अपनी विवशता समेटे, निर्मल ने कई बार चाहा कि उस निकट बैठी रेखा से बातों का सिलसिला जोड़े; किन्तु चुप ही रहा वह।

लॉन पर पहुँच कर, एक झाड़ी के सामने फ़ोटो का कार्य-क्रम बना। तभी याद आया, रेखा कहाँ है? और सच ही तो रेखा वहाँ नहीं थी। विवश हो, तलाश शुरू हुई। लॉन की सारी झाड़ियाँ देख डाली गईं। नदी का रेतीला किनारा भी ढूँढ़ा गया; किन्तु रेखा न मिली, साथ की लड़कियाँ हैरान थीं कि आख़िर गई कहाँ रेखा!

और तभी निर्मल घूमते-घूमते एक झाड़ी के निकट पहुँचा। हरी-हरी पत्तियों के बीच फूल खिले थे बहुत से। और उसके बीच ठीक फूलों-सी ही रेखा को पाकर वह चौंका, बोला—"आप यहाँ?"

रेखा जैसे लाज से गड़ गई हो। अधरों पर लाली दौड़ आई थी। सँभल कर बोली—"कुछ नहीं, ऐसे ही चली आई थी। सोचा था, आपको क्या दूँ!"

"मुझे...?"

रेखा झाड़ी से बाहर आ चुकी थी। साड़ी ठीक कर, नीचे ताकती बोली—"माँ आपका नाम अकसर लिया करती थीं। आप बड़े भावुक और अच्छे हैं...?" आगे बात छोटी-सी मुस्कान में खो गई।

रेखा की हँसी ने निर्मल के हृदय पर अधिकार जमाया। जैसे उस शाश्वत रेखा की हँसी में उसका कण-कण खो जायेगा। रेखा की तरल हँसी की छाया में उसे ऐसी नींद प्रतीत हुई, जिसमें प्राणों का कम्पन अपनत्व समेट कर छिप जाना चाहता है। उस जैसी सरल और स्नेह-स्निग्ध नारी, उसने कहाँ देखी थी? लापरवाही से साड़ी का एक छोर कन्धे पर डाले, बालों की चोटी का फीता मुँह में दबा कर खड़ी हुई रेखा के चरम सौन्दर्य को निर्मल ने इतने निकट से आज पहली ही बार देखा था। उस अयाचित, गतिहीन विवशता की तह में वह कैसे उतरे? चाहा था निर्मल ने कि मन

का कोई कोना खाली न रह जाये। आँखों के मध्य उतर कर रेखा ठीक हृदय में प्रवेश करती-सी लगी। तभी पीछे हाथों में फूल देख, निर्मल ने पूछा—"और ये फूल...?"

चोरी पकड़ी गई थी। रेखा शरमा गई। फिर फूलों से भरी हुई डाल का एक सिरा दाँतों से दबाती, थोड़ा हँस कर बोली—"मेरी भेंट स्वीकार करेंगे आप?"

"भेंट!"

"डर लगता है, कहीं आप इनकार न कर दें।"

"रेखा!"

"नहीं, पहले वचन दीजिये!"

"रेखा, मैं...!"

बात काटी रेखा ने, कहा—"कितने सुन्दर हैं ये फूल! इन्हें सहेज कर रखियेगा। कहीं आपकी लापरवाही से...!"

निर्मल हँस पड़ा।

कहा रेखा ने आगे—"पुरुष लापरवाह होते हैं। किसी चीज़ को व्यर्थ करते उन्हें दुःख नहीं होता। अपना मन बहलाना भर जानते हैं वे। जैसे दुनिया की सारी ज्ञेय वस्तुएँ मिट्टी की ही बनी हैं।"

फिर चुपचाप खड़े निर्मल की आँखों में ताक, नीचे झुक कर फूलों को पैरों के निकट रख, बोली—"इन्हें चरणों में स्थान दीजियेगा! अच्छा!"

और फिर हलकी हँसी बिखरा कर भागी थी रेखा।

बड़ी देर तक निर्मल रेखा के बारे में सोचता रहा। आख़िर रेखा चाहती क्या है? कैसा खेल शुरू किया है उसने? बहुत गम्भीर लगी रेखा निर्मल को। और अब जैसे रेखा की हँसी उसे पुनः सुनाई पड़ रही हो। रेखा कहने लगी—"मैं मुझे...!"

निर्मल ने विवश हो आँखें बन्द कर लीं। रेखा फिर निकट थी, जैसे खूब सज-सँवर कर आई हो। इस रेखा को वह कहाँ रखे उठा कर? ऊब कर आँखें खोल दीं। रेखा का विचार टूटा।

भ्रम था—केवल भ्रम!

डाल से फूल तोड़, जेब में रखे। बड़े सुन्दर लगे वे फूल...कि देखा, पीछे अन्य लड़कियों के बीच रेखा थी। उन्होंने कहा—"खूब! आप यहाँ हैं, और हम सब आप की वहाँ प्रतीक्षा करें...।"

भारी खिलखिलाहट से चौंका था निर्मल। सँभल कर बोला—"चलिये, ज़रा यों ही आ गया था। सोचा था, क्या दूँ आपको?"

रेखा पर बात कही गई थी। खूब लगी उसे। अपने से वह बाहर गई क्यों? नारी की मर्यादा उसने तोड़ी है, बहुत-बहुत शरमा गई वह।

और फ़ोटो के लिये लॉन के बीच में खड़ी अन्य लड़कियों के साथ रेखा ने हाथ उठाया—जैसे कहना भर चाहती हो कि रुको जी, मेरा फोटो मत लो; किन्तु निर्मल ने स्विच दबा दिया। फोटो खिंच गया था।

घर लौटते समय काफ़ी देर हो गई थी। घना अँधेरा छा गया था। चारों ओर गहरी कालिमा छाने लगी थी। देर हो जाने से ताँगा भी नहीं मिला। विवश हो पैदल ही चलने का निश्चय हुआ। नदी का रेतीला किनारा, नीचे बड़ी-बड़ी घास, सुनसान वातावरण, अँधेरे से ढँका रास्ता। रेखा पीछे छूट गई थी। एकान्त था, निर्मल ने कहा—"मेरा हाथ पकड़ लीजिये, कहीं ठोकर न खा जायँ।"

और रेखा ने इनकार नहीं किया। चुपचाप आगे बढ़ते निर्मल के बलिष्ट हाथ को थाम लिया। फिर बहुत निकट आ, बोली—"देखिये, आपने मेरा हाथ पकड़ा है, कहीं फिर धोखा..."

और उत्तर में रेखा ने पाया कि निर्मल ने और भी ज़ोर से उसका हाथ दबाया था। किन्तु फिर किसी अज्ञात आशंका से तुरन्त ही चौंक कर बोला—"मैं तो तुम्हारा हूँ, रेखा!"

यह सुन, रेखा ने उस आगे बढ़ते हुये निर्मल से सट जाना चाहा। हृदय उसका वेग से धड़क रहा था, सारा शरीर पसीने से तर था, वह चुप रही। लड़कियाँ निकट आ गई थीं। आगे बढ़ गई रेखा और उन्हीं में खो गई।

और एक दोपहर को रेखा के भाई ने एक चिट लाकर दी। निर्मल ने लिखावट पहिचानी; रेखा ने भेजी थी; लिखा था—

"मुझे माफ़ कीजियेगा। कल की बात मन में खूब लज्जा भर लाती है। रात भर नींद नहीं आई। आपकी याद क्यों इतनी आई, समझ में नहीं आ रहा है। फिर भी मन हलका-हलका है। हाँ! सच, उसमें कहीं भी भारीपन शेष नहीं है। जैसे जो बोझा था, उसे आपने उतार लिया हो। माँ की इच्छा है कि आप मुझे अपनी...! क्या आप मुझे स्थान न देंगे? लिखिये।"

निर्मल ने पत्र मोड़ कर जेब में रख लिया। फिर सिगरेट जला कर विचारों में डूब गया, सोचा, आख़िर क्या पहेली सी बनी रहेंगी ये सब बातें? और रेखा ही उसे क्यों उलझाये है। अपना जीवन किसी पुरुष की छाया के नीचे सुला देने की जो

अतृप्त प्यास रेखा लिये फिरती है, उसे वह कहाँ निरख पाया था ? निर्मल अपने में आया। रेखा का विचार पीछे छूट गया। सामने पुष्पा थी रेखा की बड़ी बहिन। तश्तरी में रख कर मिठाई लाई थी नाश्ते के लिये। निर्मल ने उठ कर नमस्ते किया। पुष्पा ने मिठाई की तश्तरी मेज़ पर सरकाते हुये कहा—"मैं तो भूल ही गई थी। यह कहिये, रेखा ने याद दिला दी। माफ़ कीजियेगा।"

निर्मल स्तब्ध रह गया।

इस बीस साल की युवती पुष्पा को वह कैसे समझे ? बहुत गम्भीर रहती है यह। बातों का सिलसिला थोड़ा-सा जमाना भर जानती है, बस ! पुष्पा को कुछ पढ़ लेने का मन हो आया उसका। झिलमिल साड़ी का छोर हिलता, पुष्पा का वह अनागत शरीर बड़ा मोहक लगा उसे। कितनी लापरवाह है यह ! और क्या लड़कियाँ विवाह के प्रथम ही परवाह नाम की चीज़ अपने पास रखती हैं ? स्वामी को पा, अपने को सौंप, यह पुष्पा भी जैसे निश्चिन्त हो उठी हो।

फिर नीचे बैठे हुये निर्मल को घूर कर उसने कहा—"उठिये, खा लीजिये !"

निर्मल चुपचाप उठ पड़ा। शिष्टाचार के नाते बोला—"इसकी क्या आवश्यकता थी ?"

पुष्पा हँस पड़ी, बोली—"अभी नहीं, अपने हो जाइयेगा, तब !"

"और आप ?"

"मैं !"

निर्मल ने मिठाई उठा कर मुँह में रखी। तभी पुष्पा बोली—"फिर नहीं पूछा आपने ?"

निर्मल को अपनी भूल की याद आई, बोला—"मालूम था, आप नहीं खायँगी !"

"खूब ! तो आप ज्योतिष का भी ज्ञान रखते हैं ! तब तो रेखा के सारे जीवनसे परिचित होंगे आप !" फिर मिठाई का एक टुकड़ा उठा कर मुँह में डालती, वह बोली—"एक बात तो माननी पड़ेगी आपको !"

"कौन-सी ?"

"ओह ! आप जैसे जानते ही नहीं...!"

पुष्पा उठ कर खड़ी हो गई थी। धीरे से हँस कर कहा—"हम लोग बहुत छोटे हैं। आपको कुछ दे नहीं पायेंगे, फिर भी जी करता है कि...!"

निर्मल चुप रहा। पुष्पा कहती ही रही—"रेखा को तो जानते ही हैं आप !"

हँस कर पुष्पा अन्दर भाग गई।

एक सप्ताह हो गया है। इसी बीच में रेखा को उसने खूब निकट से देखने की चेष्टा की थी। खूब समझ लेने की बात अब मन में शेष न थी। रेखा ने निर्मल के हृदय को अपनी मुस्कानों से भर दिया था। आख़िर प्रतिपल निकट आती उस सुन्दर नारी की अवहेलना भी वह कैसे करता? तितली-सी उस रेखा नारी ने निर्मल के चारों ओर उड़-उड़ कर एक दायरा खींच दिया था। निर्मल सोचता, रेखा क्या है—नारी, वरदान, याचना अथवा निरी अनबूझ पहेली...? क्या स्त्री की पुरुष के प्रति यही माँग है? और कभी निर्मल पुष्पा के बारे में उलझ जाता। तब कई-कई सिगरेट फूँक डालने पर भी वह रेखा के समझने के सवाल को हल नहीं कर पाता। विचार अधिकाधिक घेर लेते। उस ऊपर उठते हुये धुएँ के गोलों में तब सब कुछ खोता-सा लगता उसे।

(२)

तीन साल हो गये। इस बीच रेखा ने आकर निर्मल की गृहस्थी सचमुच सँभाल ली थी। नारी रेखा पुरुष निर्मल के निकट मन सौंप चुकी थी, और पाया था एक अपनत्व, थोड़ा-सा स्नेह और जिज्ञासा-मात्र कर लेने योग्य सुख।

निर्मल अब डॉक्टर हो गया था। अस्पताल की भीड़ में दिन बीत जाता। रात में रेखा गम्भीर भाव से मिलती उलहनों से मन भर देती, कहती—"जल्दी आ जाया कीजिये, मुझे डर लगता है, कितनी अँधेरी रातें हैं!" और तब निर्मल उस निकट लेटी रेखा को थपथपा कर समझाता और अपनी सफ़ाई पेश कर लेने के बाद कहीं कुछ हलका हो पाता।

रेखा चुप हो जाती। चाहती ऐसे ही वह चुप रहे।

एक दिन शाम को एक केस आया। ऑपरेशन-थियेटर में मेज़ पर लेटी हुई थी एक नारी। मुँह बिलकुल पीला हो गया था। जैसे शरीर का बूँद-बूँद खून निकाल लिया हो किसी ने। पीछे पता चला, दो दिन हुये हैं बच्चा हुये। निर्मल ने आगे बढ़ कर्तव्य निभा, स्टेथसकोप उसकी छाती पर रख दिया। भारी धड़कन थी। मन भर आया था उसका। तब लेटी नारी बड़ी निस्सहाय लगी। निर्मल ने सोचा, कितनी विवशता लेकर नारी आती है। और क्या कुत्ते-बिल्लियों की भाँति ही इनका जीवन घुट-घुट कर समाप्त होने के लिये है? मातृत्व की उस देन ने वेदना का अंधकार निर्मल के मन में फैला दिया था। वह अब फैलता-सा लगा, मानो निर्मल के सारे शरीर में वह फैल कर उसके प्राण ले लेगा। स्टेथसकोप के स्पर्श से चौंक कर आँखें खोलीं। उन सफेद प्रतिपल मुर्झाती हुई आँखों के मध्य उसे जैसे रेखा दिखाई पड़ी। और रेखा भी तो नारी है, ठीक इसी तरह। तब...तब? जैसे विवश हो, वे आँखें मौन ही रहना चाहती हों। बताया सम्बन्धियों ने सवेरे से बोल बन्द है। सारा शरीर

"लेकिन सिस्टर निर्मल, शाम से ही बोलना बन्द है। 'डलेरियम' हो गया है। इंजेक्शन दे दिया है। अच्छा हुआ आप आ गये। टेम्परेचर नोट कीजियेगा। मैं सवेरे आऊँगा। अच्छा, नमस्ते!" कह कर डॉक्टर एक ओर बढ़ गया।

निर्मल का हृदय धड़क रहा था, जैसे बस, अब आख़िरी बार धड़क कर बन्द हो जायगा। कमरे के बीच एक साफ़ पलंग पर रेखा लेटी थी। बिजली के उस शुभ्र प्रकाश में उसका शरीर बड़ा सुन्दर लगा उसे, जैसे वह अभी-अभी चुपचाप सोई हो।

देख कर निर्मल का सारा शरीर काँप गया।

माँ ने बताया था—"चार दिन पहले तक ठीक थी। रात पेट में ज़ोर का दर्द हुआ और सवेरे लड़की पैदा हुई...!"

निर्मल खड़ा न रह सका। माँ का आँचल पकड़ धम् से बैठ गया। रेखा का स्नेह आँखों से बह कर आने लगा था। अपने पर खूब क्रोध आया उसे। आख़िर उसी ने तो रेखा को मारने के लिये फाँसी तैयार की थी! निर्मल ने आज पहली बार अनुभव किया था कि रेखा का अभाव वह सह न सकेगा।

बहुत रात तक निर्मल की हिचकियाँ चलती रहीं और रेखा की हालत ख़राब होती गई।

सवेरे डॉक्टर ने आकर दवा 'प्रिसक्राइब' की। निर्मल ने 'डाइगनोसिस' में योग दिया। दोपहर तक हालत और बिगड़ने लगी। बार-बार शरीर ऐंठ जाता था, मुँह एकदम बन्द हो गया और एक अस्फुट, किन्तु ज़ोर का स्वर चालू हो गया था। निर्मल दौड़ कर डॉक्टर को लाने गया। लौटा तो घर में क्रन्दन सुनाई पड़ा। कहीं कुछ शेष न था, जैसे कोई पंछी अपने पिंजड़े को तोड़ कर उड़ गया हो।

निर्मल बाहर का दरवाज़ा पकड़ कर वहीं बैठ गया। अन्दर आदमियों की भीड़ बढ़ रही थी। सर्वनाश हो चुका था।

(४)

अब वह अन्धकार निर्मल के मन में फैलता-सा लगा। उसके बीच रेखा का असहाय शरीर अब भी वैसा ही लेटा दिखाई पड़ रहा था—भारी श्रम निर्मल को घेरे था। प्रतिपल वह अन्धकार गाढ़ा ही होता जा रहा था।

तीन दिन हुये हैं, वह हरिद्वार से लौटा है। कहीं कुछ हलकापन नहीं है, जो मन बँटा ले। निकट रेखा की याद भर शेष है—गहरी-गहरी! एक धुँधली सन्ध्या को तारों-भरे नीले आकाश के नीचे खड़े होकर 'ब्रह्मकुण्ड' में उसने निकट की दीप-मालिकाओं की जगमगाहट में कल-कल करती माँ गंगा की तरल धार में रेखा के शरीर की अस्थियाँ प्रवाहित कीं और पहली ही ट्रेन से छोड़ दिया वह नगर। जीवन में अँधेरा छा गया। रेखा ने अपना प्रकाश समेट लिया था।

और बाहर का घना अन्धकार...? बिजली की हलकी बत्तियों के नीचे वह प्रकाश जैसे कह रहा था—'मैं—मुझे लो। मैं तो तुम्हारे ही अन्दर हूँ।' ऊब कर निर्मल ने खिड़की खोल दी। खूब-खूब बुख़ार चढ़ आया था उसे। भारी प्यास लगी थी, नीचे उतर कर, मन भर कर ठण्ढा पानी पी लिया था उसने।...

तभी हवा के एक झोंके से कमरे में जलता दीपक बुझ गया।

गहरा अँधेरा फैल गया था वहाँ।

और निर्मल की आँखों में वह अँधेरा था, जिसमें दो नारियों का स्नेह अपना मृत-शरीर गाड़ गया था।

रेखा जैसे आँखों में आई हो, और वह केस!...

निर्मल ने पुकारा—"रेखा!"

ध्वनि टकरा कर लौट आई।

जैसे वह पागल हो, चारपाई से उठा, बाहर से अन्धकार का जैसे वह पता लगा लेगा आज। आख़िर क्यों यह अँधेरा मन को घेरे है? और मौत...? मौत क्या है? क्या अँधेरा ही तो मौत बन कर नहीं आता?

निर्मल दरवाज़ा खोल कर बाहर सड़क पर आ गया था। जो प्रकाश उसके मन से रेखा छीन ले गई थी, उसे खोजने वह दौड़ा चला जा रहा था। पानी बरसने को था। बादल खूब घिर आये थे। घना अँधेरा छा गया था—ठीक वैसा ही, जैसा निर्मल के मन में था। उस सघन और गहन बढ़ती हुई अँधियारी में निर्मल ज़िन्दगी का प्रकाश खोजने निकल पड़ा। कौन जाने, उस प्रकाश की खोज उसने कर ली है अब तक अथवा नहीं।

विवाह का सन्देशा

विमला नरेन्द्र के जीवन में एक तूफ़ान की भाँति आई। शहर में नरेन्द्र के चाचा रहते हैं। उन्हीं के घर पर रह, उसने यूनीवर्सिटी की डिगरियाँ ली हैं। पड़ोस की स्त्रियाँ एक दिन उसके यहाँ आईं; उन्हीं में विमला भी थी। तभी न जाने क्यों, अनजाने नरेन्द्र को विमला बहुत अच्छी लगी। नरेन्द्र ने अनेक लड़कियां को देखा था; किन्तु विमला की रूप-माधुरी ने उसे विचित्र ही सुख और सन्तोप दिया। और एक दिन जब विमला के पिता ने नरेन्द्र के चाचा से विमला को एक घण्टा पढ़ा देने के लिये नरेन्द्र को कहा, तो नरेन्द्र को आश्चर्य नहीं हुआ।

पहले ही दिन विमला उसे विचित्र लगी। इतनी वाक्-पटु और कुशल लड़की तो उसने जीवन में नहीं देखी। अकेली सन्तान होने के कारण विमला पन्द्रह-सोलह साल में ही पूर्ण युवती लगने लगी थी। विमला के पिता शहर के प्रमुख वकीलों में थे। नरेन्द्र पर शुरू से ही उनकी श्रद्धा थी।

उस दिन विमला ने कुछ पढ़ा नहीं। अनेक प्रश्न पूछे गये—मास्टर साहब का नाम क्या है, घर कहाँ है, कितनी बहिनें और भाई हैं, मास्टर साहब ने बी० ए० में क्या ले रक्खा था?

नरेन्द्र इसका क्या उत्तर दे? आखिर उतने सारे प्रश्नों का वह उत्तर दे भी तो कैसे? जिज्ञासा की उस आँधी के सामने, जिसमें विमला उड़ी जा रही थी, नरेन्द्र थका-सा रह गया; फिर बोला—"आप पढ़ें भी...!"

"वाह! नाम तो आपको बताना ही पड़ेगा!"

नरेन्द्र कट गया।

अधिकार की गतिमान तह में विमला एक घायल मृगी के समान अपना घर बनाती-सी लगी। नरेन्द्र के मन में एक तूफ़ान उठ रहा था। वह विमला से झगड़ा कैसे मोल ले? तभी नौकर ने आकर कहा—"माँजी बुलाती हैं।"

विमला अन्दर गई, और फिर न आई। उस दिन की पढ़ाई वहीं रुक गई।

घर आकर नरेन्द्र ने अपने अन्दर एक अनोखी-बेचैनी और आतुरता का अनुभव किया। रह-रह कर विमला की कातर, मूक, भावनापूर्ण आँखें नरेन्द्र के सामने नाचने

लगतीं। नरेन्द्र सोचता, विमला कितनी सुशील है! कोई भी तो उससे प्रथम बार ही मिल कर उसका हो सकता है। कितनी बार नीचे बैठी विमला ने उसे कनखियों से देखा, किन्तु जी भर हँस-बोल कहाँ पाई वह? फिर दूसरे ही क्षण नरेन्द्र को अपनी स्थिति का ज्ञान हुआ। मन में समाई विमला को वह कैसे निकाले? वह विमला, जो केवल पहले ही दिन उसकी नस-नस में समा कर रक्त का संचालन करने लगी थी, उसे एकाएक दूर भगाने का नरेन्द्र में साहस नहीं था। बड़ी देर तक अपने पर विमला के अधिकार की बात को हटाता रहा वह। सोचता, व्यर्थ नया रिश्ता वह क्यों जोड़े? ज़िन्दगी में किसी की याद रखना ही तो दुःख को पालना है। अपने ही बनाये हुए छाया-जाल में नरेन्द्र फँसा रहा। यहाँ तक कि उसे पता ही नहीं चला कि रामदास कब चाय का कप मेज़ पर रख गया। थोड़ी देर में रामदास फिर आया। मालिक को उसी प्रकार बैठा देख कर उसका जी भर गया। निकट आ बोला—"आपने चाय भी नहीं पी!"

"नहीं, रामदास, कुछ सोचता था। याद ही नहीं रही। दूसरा कप ले आओ!"

जब रामदास चला गया, तो नरेन्द्र ने दिल बहलाने के लिये एक मोटी-सी किताब निकाली। किन्तु मन न लगने के कारण बन्द कर उसे एक तरफ़ रख दिया। चाय पीकर बाहर निकला कि सुधा चाची ने सुनाया, खाना तैयार है, खाकर कहीं जायँ।

नरेन्द्र खाने बैठ गया।

सुधा ने थाली सामने रखते हुये कहा—"आज तो तू बाहर ही नहीं निकला। मैं कहती हूँ, इसका जब इम्तहान सिर पर आ जाता है, तो खाने-पीने की भी फ़िक्र जाती रहती है।"

नरेन्द्र चाची की इस अत्युक्ति पर हँस पड़ा।

निकट बैठी हुई शान्ति ने शोर मचाया—"दाल में नमक अधिक है, तरकारी में भी मिर्च ज़्यादा है?"

सुधा ने जिज्ञासा-भरी दृष्टि नरेन्द्र पर डाली। किन्तु वह तो चुपचाप, सिर नीचा किये खाता ही रहा। विमला की कल्पना ने उसे इतने ऊँचे उठा कर रख दिया था कि नमक और मिर्च ज़्यादा होने की उसे याद ही नहीं थी। शान्ति की चीख़-पुकार से चौंक कर बोला—"हाँ! ज़्यादा तो है!"

सुधा खिलखिला कर हँस पड़ी, फिर बोली—"अभी क्या? आने दो ज़रा महारानी को!"

सुधा ने दाल में चम्मच डालते हुये फिर कहा—"सभी को सीधा आदमी थोड़े ही मिलता है। इसके लिये भी बड़ी तपस्या करनी पड़ती है!"

नरेन्द्र के मुह पर स्वाभाविक लज्जा की लाली दौड़ गई; हँस कर बोला—"नहीं चाची! आज क्लास में मार्क्स की 'थ्योरी' बताई गई थी, उसी को बैठा देख रहा था।"

सुधा चाची चुप हो गईं।

अपनी ग़लती पकड़े जाने पर जैसे विद्यार्थी को दुःख और सन्ताप होता है, वैसा ही नरेन्द्र ने भी अनुभव किया। खाना खाकर उठा, कपड़े पहिन बाहर निकला, फिर सोचा, विमला के यहाँ ही चला जाय। विमला दरवाज़े पर ही मिली। दोनों हाथ उठा कर नमस्ते की, फिर हँस कर बोली—"आज आपने बहुत देर की?"

नरेन्द्र क्या उत्तर दे? चाहा, कह दे कि विमला, खाने में ज़रा देर हो गई। कल से और भी पहले आ जाया करूँगा। किन्तु निःशब्द चुप ही रहा।

विमला नरेन्द्र को छोड़ अन्दर भाग गई। नरेन्द्र के मन-प्राण पर हलकी प्रगतिशील यौवन की चंचलता से भरी विमला की पुलकित मुस्कान और स्नेह-स्निग्ध आँखें जल की अत्यन्त आतुर लहर के समान फैल गईं। माधुरी की उस तरल-स्नेहसिक्त धारा में नरेन्द्र का भावुक मन बह गया। नरेन्द्र ने सोचा—कितनी सुन्दर है विमला! एक सुमन के समान उसका यह निखिल सौन्दर्य, उसे क्या पता, कितने भ्रमरों को पागल बना सकता है! विमला की विचार-धारा बहुत देर तक नरेन्द्र को उलझाये रही। सामने बिखरी पुस्तकों पर दृष्टि गई। नरेन्द्र ने एक पुस्तक उठा कर देखी, पहले ही पृष्ठ पर महीन सुन्दर अक्षरों में लिखा था—'कुमारी विमला' नरेन्द्र सिहर उठा, आँखें मूँद पुस्तक रख दी। फिर एक सिगरेट जलाकर उसका बहुत-सा धुआँ ऊपर छोड़ते हुये वह सोचने लगा—'काश, विमला को वह इससे भी निकट से देख पाता...' ऊब कर नरेन्द्र ने सिगरेट बुझा दिया। तभी सामने से विमला अपने छोटे भतीजे विशन के साथ आती दीख पड़ी।

विशन ने आते ही नमस्ते की। फिर खड़े-खड़े ही हँस कर बोला—"मास्टर साहब, कल आपके चले जाने के बाद से...!"

"विशन!" विमला ने बात काटी।

विशन ने उसी प्रकार हँस कर कहा—"नहीं, मैं तो कहूँगा—हाँ, तो...!"

"विशन!"

परन्तु विशन ने उसी प्रकार अपनी बात आगे कहनी चाही। अब विमला ने दौड़ कर हाथ से विशन का मुँह बन्द कर दिया। फिर रुष्ट-सी होती हुई बोली—"देख विशन, मेरा भोला विशन, तू कितना अच्छा है! तुझे सिनेमा ले चलूँगी, समझा!"

स्नेह के अतुल उन्माद से भरे इस झगड़े को देख कर नरेन्द्र हँस पड़ा। फिर बोला—"विमला, अपना पाठ याद करो!"

विमला को ग़लती मालूम हुई। एक अपराधी की भाँति मुँह पर से हाथ हटा लिया। चुपचाप अपनी जगह आ कर बैठ गई। तब नरेन्द्र ने खूब लज्जा से विमला का चेहरा लाल होता हुआ पाया था।

मुँह खुलते ही विशन ने हँस कर उसी प्रकार कहा—"दिन भर आपका नाम लेती रहीं। कहती थीं कि मुझे तो मास्टर साहब बहुत अच्छे लगते हैं। कितने सुशील और हँसमुख हैं! जी करता है कि..."

"विशन तू...!" और फिर कुछ न कह, विमला हँस कर अन्दर भाग गई थी।

विशन को एकाएक अपनी भूल की याद आई। हाय, उसने क्या कह दिया! इतनी बड़ी बात विमला दीदी के लिये वह कह गया था। अन्दर ही अन्दर विशन दुःख से गल गया। वह चुप हो गया।

नरेन्द्र ने कमरे के चारों ओर दृष्टि डाली। आँखें एक बड़े-से फोटो पर जा कर टिक गईं। वह फोटो विमला का था। नरेन्द्र ने उस बिखरी हुई सौन्दर्य-राशि के अन्दर विमला का छोटा-सा तड़पता हुआ मन पाया—वह मन जिसकी अभ्यर्थना करने के बाद भी उसे सन्तोष नहीं हुआ था। बड़ी देर तक चित्र की विमला के सौन्दर्य को नरेन्द्र निरखता, एक असीम सुख का अनुभव करता रहा। फिर एकाएक विशन को याद कर बोला—"तो मेरा नाम लेती रहीं?"

विशन केवल हँस भर दिया। फिर किताब बन्द कर बोला—"अब नहीं बताऊँगा। विमला दीदी नाराज़ होती हैं।"

नरेन्द्र ठहाका मार कर हँस पड़ा।

विमला फिर नहीं आई।

और एक दिन खाना खाकर उठा, तो रामदास ने एक चिट्ठी लाकर दी। नरेन्द्र ने लिखावट पहिचानी। एक विचित्र सुख से वह भर गया, लिखा था विमला ने—

"उस दिन विशन की बातों से क्या आप सचमुच नाराज़ हो गये? मैं अपनी असावधानी के लिये क्षमा चाहती हूँ! तीन-चार दिनों से आप आये क्यों नहीं? मुझे न जाने क्यों, कुछ अच्छा नहीं लगता है। सारा दिन आपकी याद आया करती है। शंका होती है, कहीं आप बीमार न हो गये हों। आशा है, आप स्वस्थ होंगे। यदि हो सके, तो आज ज़रूर आइये।"

'और विमला ने सच ही तो लिखा था'—सोचा नरेन्द्र ने—'कहाँ गया वह चार-पाँच रोज़ से विमला के घर? वकील साहब के पूछने पर भी तो उसने केवल इतना

ही कह दिया था कि छुट्टी नहीं मिली, अब ज़रूर जाऊँगा। कमीज़ पहिन कर वह बाहर निकला कि अचानक बिशन ने नमस्ते की। फिर बोला—"विमला दीदी ने आपको बुलाया है।"

"मुझे?"

"तीन दिनों से विमला दीदी ने खाना नहीं खाया है। मालूम है आपको?"

नरेन्द्र एक अपराधी की भाँति चुपचाप खड़ा रहा। बिशन ने फिर कहा—"मास्टर साहब, आपको कुछ भी नहीं पता कि विमला कितना...!"

"बिशन!" नरेन्द्र ने कुछ ज़ोर से कहा।

"आपने विमला दीदी का मन क्यों दुखाया—बोलिये?"

नरेन्द्र आगे सुन न सका। अन्दर भाग गया। जूते पहिन कर बाहर आकर बोला—"चलो, बिशन, चलें। तुम्हारे घर चलता हूँ।"

बिशन चुपचाप मंत्र-मुग्ध-सा साथ हो लिया।

घर पहुँच कर नरेन्द्र ने देखा, विमला पहले से ही अपने कमरे में किताबें खोले हुये बैठी थी। नरेन्द्र को आते देख कर उसने नमस्ते की।

बिशन ने दौड़ कर कहा—"देखो, मैं लाया हूँ मास्टर साहब को बुला कर। मुझे मिठाई खिलाओ।"

विमला ने डाँट बताई, तो नरेन्द्र ने हँस कर कहा—"भई, मिठाई तो मैं भी खाऊँगा!"

विमला लाज से गड़ गई।

विमला की डाँट से बिशन चुपचाप अन्दर भाग गया।

नरेन्द्र ने अपने अत्यन्त सन्निकट बैठी, किताबों से उलझी हुई विमला को देखा, और देखा उस रूप-पुञ्ज के अन्दर उठती हुई महान् अभिलाषा को, जो फेन के समान छाई थी। नरेन्द्र ने अनुभव किया, विमला इन तीन दिनों में ही बहुत उदास हो गई है। आँखें उसकी भीतर धँस गई हैं और मुख पर एक म्लान, अविच्छिन्न हँसी की रेखा खिंच गई है। अपने इस अनुभव से नरेन्द्र को दुःख हुआ। वह एक आहत पक्षी की भाँति बोला—'विमला!"

"जी!"

"क्या मुझे क्षमा न करोगी?"

विमला पुस्तक की काली-काली लकीरों से ही उलझी रही। केवल उसकी बड़ी-बड़ी नीचे झुकी हुई आँखें भीग गईं। नरेन्द्र ने निकट आकर कहा—"मुझे माफ़ करो!"

"आपको ?"

अब विमला ने अपनी आँखें उठाईं। कनखियों से नरेन्द्र को देखा। नरेन्द्र ने उन कातर-मूक आँखों में अभिलाषा का वह रूप देखा, जिसे देख कर वह काँप उठा। फिर बोला—"मुझे नहीं मालूम था कि तुम मुझे इतना..."

विमला ने अब बात काटना ज़रूरी समझा; उत्तर दिया—"आपको क्या, आप भी यदि पुरुष न हो कर मेरी ही भाँति स्त्री हुये होते, तो जानते !"

नरेन्द्र पर एक अनोखा नशा छा रहा था।

विचित्र सिहरन अपने अन्दर वह अनुभव कर रहा था।

नीचे बैठी विमला ने मन का एक छोटा कोना अपने स्नेह से ढँक लिया था।

उस एकान्त, निर्जन कमरे के बीच बैठे हुये नरेन्द्र ने विमला को देखा, विमला ने आँखें नीची कर लीं।

नरेन्द्र ने नीचे बैठी विमला का हाथ अपने हाथ में ले लिया। यौवन का रक्त दोनों के शरीर में दौड़ने लगा।

विमला निश्चेष्ट, निर्जीव, स्वप्न में खोई-सी, प्रतिमा-सी बैठी रही। विमला की पतली गोरी-गोरी अँगुलियों को छूता हुआ नरेन्द्र बोला—"क्या सच, मुझे क्षमा न मिलेगी ?"

विमला हँस पड़ी।

उसकी इच्छा थी कि वह इसी प्रकार बातें करता रहे। इन बातों का कभी अन्त न हो। क्रियाहीन, काष्ठवत्, विमला के अलसाये, यौवन-भार से बोझिल शरीर को खींच कर नरेन्द्र ने अपने बाहु-पाश में कस लिया।

इसी समय माँ ने अन्दर से पुकारा—विमला !"

विमला दौड़ कर माँ के पास भाग गई।

इस घटना के पश्चात् नरेन्द्र विमला के अत्यधिक निकट आ गया।

विमला सोचती—'नरेन्द्र कितना सरल और भावुक है। बातचीत के सिलसिले में कितनी बार उसने अपनत्व की छाया बिखेरी है।' नरेन्द्र सोचता—'काश, ज़िन्दगी का प्रभात उसी की स्नेह-धारा में बह पाता !' अपनी इस सुन्दर-कल्पना में उसे विचित्र सुख मिलता।

जाड़े के दिन थे। नरेन्द्र देर से विमला के घर आया। बाहर का कमरा खाली था। विमला किसी कार्यवश भीतर गई थी। किताबें इधर-उधर बिखरी पड़ी थीं। नरेन्द्र सीधे विमला के बड़े-से फोटो के निकट पहुँचा। बड़ी देर तक चित्र में बिखरी हुई रूप-सुधा को निरखता रहा। जैसे तस्वीर सचमुच सजीव रही हो। नरेन्द्र

भावनाओं में बह गया। मन भर विमला को प्रणाम किया। आवेश में फिर हाथ जोड़ श्रद्धा से बोला—"विमल ! तुम्हें क्या पता...?"

तभी एक खिलखिलाहट से नरेन्द्र का ध्यान टूटा। देखा, विमला चुपचाप कुरसी का सहारा लिये उसी के निकट खड़ी, उसे देख रही है। नरेन्द्र लज्जा से कट गया। विमला ने धीरे से मुस्करा कर गम्भीर आवाज़ में कहा—"चोरी अच्छी नहीं होती, मास्टर साहब !"

नरेन्द्र निर्वाक्, मूक, कर्त्तव्य-विमूढ़-सा खड़ा रहा।

विमला ने आगे बढ़ कर, बिलकुल नरेन्द्र के समीप पहुँच कर कहा—"मास्टर साहब !" फिर चित्र की ओर इशारा कर बोली—"मालूम है, यह कौन हैं ?"

नरेन्द्र ने गरदन हिला उत्तर दिया, "नहीं।"

विमला ने एक जानकार की भाँति अपने सीने पर अँगुली रख कर कहा—"मैं !"

तभी विमला ने फिर प्रश्न जोड़ा—"जानते हैं, यह कहाँ रहती है ?"

नरेन्द्र चुप रहा।

नरेन्द्र ने आँखें मूँद लीं।

हँसती हुई विमला ने अब आगे बढ़ कर, चुप खड़े हुये नरेन्द्र का हाथ पकड़ कर कहा—"आइये, मैं बताऊँ यह देवीजी कहाँ रहती हैं ?" और विमला ने नरेन्द्र के हृदय को अँगुली से छू कर कहा—"यहाँ ! समझे आप ?"

नरेन्द्र खिलखिला कर हँस पड़ा।

विमला एक सोफ़े पर आकर बैठ गई। मन उसका एक अनूठे आनन्द से भर रहा था। फिर वहीं से हँस कर बोली—"एक बात पूछूँ, मास्टर साहब ?"

नरेन्द्र ने सिर हिला कर जैसे हामी भरी।

"तो बताइये, प्रेम क्या है ?"

नरेन्द्र अपने में आया। वह कैसे समझावे ? क्या कहे विमला से ? जिस असीम अनन्त, अकथनीय प्रेम की कोई परिभाषा नहीं, उसे वह कैसे प्रकट करे ? फिर भी विमला को तो उत्तर देना ही है। वह अपनी पराजय माने कैसे ? इसीलिये बोला एक विद्यार्थी की भाँति—"किताब खो गई है। एक-दो दिन में देख कर बताऊँगा।"

विमला खिलखिला कर हँस पड़ी।

फिर अत्यन्त स्नेह-मग्न विमला के निकट आ कर वह बोला—"विमला रानी ! जानती हो, प्रेम क्या है ?"

विमला ने नीचे ताकते हुये धीरे से कहा—"नहीं !"

नरेन्द्र ने विमला का हाथ अपने हाथ में ले लिया। निःश्चेष्ट, निःशब्द बनी रही

वह, जैसे किसी ने मन्त्र-मुग्ध कर दिया हो! आवेश की तरल धार में नरेन्द्र वह गया। उसके बालों को धीरे-धीरे सहलाते हुये बोला—"अब भी नहीं समझीं विमला, कि प्रेम क्या है!"

विमला ने आँखें ऊपर कीं। नरेन्द्र की मदभरी आँखों से उसकी आँखें टकराईं। स्वप्न-विस्मृत-सी वह मुस्करा दी।

× × ×

और एक दिन नरेन्द्र ने सुना कि विमला की नानी बीमार है, सब लोग गाँव जा रहे हैं। उस रात वह नींद भर सो न पाया। रह-रह कर विमला की याद आती रही। सुबह होते ही हाथ-मुँह धो, कपड़े बदल वह विमला के घर जा पहुँचा। देखा, मकान खाली पड़ा है। नौकर ने बताया, अभी सब लोग स्टेशन गये हैं। नरेन्द्र ने घड़ी देखी, छः बज कर दस मिनट हो चुके थे, और साढ़े छः पर ही तो ट्रेन जाती है। ताँगा कर नरेन्द्र शीघ्रता से स्टेशन की ओर बढ़ा। मार्ग भर वह अनमना-सा बैठा विमला के विषय में न जाने क्या-क्या सोचता रहा। बीच में रेल के फाटक पर ताँगा रुक गया। फाटकवाले ने बताया, गाड़ी आ रही है।

नरेन्द्र ने घड़ी देखी, छः बज कर पैंतीस हो चुके थे। एक भारी निद्रा से चौंका नरेन्द्र। और तभी सचमुच ट्रेन आ गई। नरेन्द्र का हृदय धड़कने लगा। वह ताँगे पर खड़ा हो कर देखने लगा। भीड़ के बीच उसने देखा—इन्टर-क्लास के एक डिब्बे की खिड़की से दो हाथ अचानक ऊपर उठ कर उसे नमस्ते कर रहे थे।

नरेन्द्र पर जैसे बिजली गिरी। वह चिल्ला उठा—"ताँगा लौटाओ!"

ताँगावाला चकराया; बोला—"स्टेशन न चलेंगे, सरकार?"

"नहीं!"

विवश हो ताँगेवाले ने ताँगा वापस किया, और उसी दिन नरेन्द्र ने चाचा का वह घर छोड़ दिया।

नरेन्द्र ने शहर के बाहर रहने के लिये जब मकान लिया, तो उसके मित्रों को बड़ा आश्चर्य हुआ। सभा-सोसाइटियों में पक्षी की भाँति चहकनेवाले नरेन्द्र को साधुओं-जैसा जीवन-यापन करते देख, पहिले तो उनकी समझ में ही न आया, किन्तु बाद में नरेन्द्र की पीड़ा-व्यथा बिजली के उज्ज्वल प्रकाश की भाँति सभी पर बिखर गई। पिछले तीन दिनों से विमला की याद को वह किसी भी प्रकार भुला नहीं पाया है। न जाने क्यों, वह सुन्दर विमला नरेन्द्र के जीवन में फिर एक बार पक्षी की भाँति चहचहा उठी।

नरेन्द्र सवेरे ज़रा देर से उठा। हाथ-मुँह धो कर जब बैठा, तो रामदास ने कहा, "चाय लाऊँ, बाबू जी ?"

नरेन्द्र ने अनमने स्वर में कहा—"ले आओ !"

तभी रामदास ने आ कर एक लिफ़ाफ़ा दिया। नरेन्द्र ने लिखावट पहिचानी, विमला की लिपि थी। फाड़ कर पत्र निकाला। एक दीर्घ निःश्वास के साथ पत्र छूट कर ज़मीन पर गिर पड़ा। नरेन्द्र गिरते-गिरते बचा।

नीचे बड़ी देर तक पत्र पड़ा रहा।

लाल काग़ज़ पर सुनहरे अक्षरों में लिखी हुई पंक्तियाँ धूप के प्रकाश में और भी चमक रही थीं। नरेन्द्र बड़ी देर तक दीवार से पीठ टिकाये सिगरेट पीता रहा। फिर एकाएक फ़र्श पर पड़े हुये पत्र को उठा कर टुकड़े-टुकड़े कर डाले। वह था विमला के विवाह का संदेशा।

पतन की ओर

ज्येष्ठ-वैसाख की तपती हुई दुपहरिया में भी उसकी काली आँखों में शीतलता और सन्तुष्टता की छाया-सी नाच उठती। किसी अज्ञात वेदना से उसके लाल अधर मुरझा जाते।

सिर पर एक छोटी-सी पीतल की कलसी और हाथ में लोटा ले कर संपतिया अपने में एक नया आकर्षण अनुभव करती। खेतों की सँकरी मेड़ों पर अपनी मैली धोती के आँचल से रोटियों को ढँके हुये जब बीनू के पास अपनी छलकती हुई आँखें ले कर जाती, उस समय सारे संसार का उन्माद-सा उसे अपनी उस अनूठी मुद्रा में सीमित-सा मालूम होता। सम्पतिया सब कुछ समझ कर भी नासमझ बनी रहती।

उसका घर था—दो कमरे पटे हुए, एक छोटी-सी छकड़िया, द्वार पर एक छप्पर। वह उन्हें देख कर सोचती—'सच! हमारे पास सब कुछ है, खेत हैं...बैल हैं...फिर ये भी तो मुझे प्यार करते हैं। मुझे और चाहिये ही क्या? शहरों में क्या रखा है।' उसकी अभिलाषा जाग्रत हो उठती। बीनू उससे हँसता-बोलता और अन्त में उसकी फटी हुई धोती की ओर संकेत करके कहता—"अरी देख न! शहरों की स्त्रियाँ कभी इन्हें छूतीं तक नहीं। अब की जब कभी 'पैठ' जाऊँगा, तो तेरे लिये एक अच्छी-सी धोती लाऊँगा। समझी, हाँ!"

और सम्पतिया शरमा-सी जाती, और फिर धीरे-से कहती—"हटो! तुम्हें दिन भर यही सूझता है। मुझे इसी में सुख है। शहरों की औरतें सुनती हूँ, बड़ी चरित्रहीन होती हैं, फिर भला तुम्हीं बताओ, उन्हीं के-से वस्त्र मुझे भी पह-नाओगे?"

और बीनू 'तिक! तिक!' कर हल चलाने लगता।

बीनू के गाँव से देहली शहर थोड़ी दूर था। महीने में एक-दो बार वह अपने खलिहान को साफ़ कर नाज ले बाज़ार में बेचने जाया करता था। वहीं पुरानी जामा मस्जिद के सामने अपना ढेर लगाये हुये बीनू बैठा-बैठा सोचता—'यह बिजली का उज्ज्वल प्रकाश, यदि सम्पतिया एक बार भी देख ले, तो मिट्टी के तेल की ढिबिया से काम लेना ही छोड़ दे!' साफ़, चौड़ी, दूर तक फैली सड़कों को देख कर उसका हृदय

रो पड़ता। जापानी गुड्डों के समान छोटे-छोटे बच्चे गाड़ियों में बैठे टहल रहे हैं। मोटरों की भों-भों, साइकिलों की टिन्न-टिन्न! सब का सब! वीनू वहाँ रहने पर तुला हुआ था।

उस दिन आकाश में आग-सी लग गई थी। उसकी ज्वाला से प्राणि-मात्र व्याकुल हो इधर-उधर भाग रहे थे। लू सर्राटे ले रही थी। मीलों तक किसी छायादार वृक्ष का पता न था। सम्पतिया अपने अंगों में खुमारी लिये हुये वही पीतल की छोटी-सी कलसी के साथ मेड़ों पर बढ़ी चली जा रही थी।

"मरूँगी, मरूँगी सखी! मरूँगी, मरूँगी!"

कोई गा रहा था। रात्रि के अन्तिम पहर की भाँति शान्त वह स्वर उसके कानों को सुझा रहा था कि—'सम्पतिया! मैं तुम्हारा हूँ, और तुम मेरी। देखो, मुझे रुष्ट न करना, मेरी प्रसन्नता तुम्हारी प्रसन्नता में ही तो है, समझी?' और सम्पतिया की उत्सुक आँखें, बैलों की जोड़ियों को चलते हुये देख रही थीं। वीनू कुछ गुनगुनाता हुआ हल चला रहा था। उसके मस्तक पर पसीने की बूँदों को देख कर वह एक बार सोच में पड़ गई—'यदि नौकरी कहीं मिल जाय, तो इससे लाख अच्छा है। मगर करेंगे कहाँ?'

हल रुक गया, वीनू उसकी धोती से रोटी खोल मेंड पर बैठ कर खाने लगा। वह सोच रहा था...'इसमें हानि ही क्या है। सब स्त्रियाँ तो चरित्रहीन होती नहीं हैं, फिर केवल सुन्दर-सुन्दर वस्त्रों को ही पहिन कर कोई अपने चरित्र को नष्ट नहीं करता। जब उसकी छोटी-छोटी पतली कलाइयाँ, शहरों की रबड़ की चूड़ियों से ढँक जायँगी, उस समय वह कितनी भली, अनूठी, सरस लगेगी!'

विचार-धारा बह रही थी—'हाँ! तो उसे राजी कैसे करूँगा? यही तो कहता हूँ, बिना पढ़ी-लिखी औरत भगवान् किसी को भी न दे...।'

पति को चुपचाप देख कर सम्पतिया बोली—"आज क्या देख रहे हो, क्या मेहनत अधिक करनी पड़ी?"

वीनू की श्वासों में उसका भविष्य हँस गया, बोला—"तुम्हें क्या? तुम तो घर पर बैठी रहती हो, अगर कहीं इतना काम करना पड़े, तो सब मालूम हो जाय। अभी मुखिया आया था, लगान के लिये कह रहा था।"

"फिर क्या सोचा है?" सम्पतिया ने एक करुणा-भरी आह खींची।

"सोचा क्या है, यदि शहर में होता, तो मज़दूरी ही करके कुछ रुपयों का प्रबन्ध कर लेता।" वीनू नीचे सिर किये हुये ही बोला।

तो क्या हुआ, करो न नौकरी, तुम्हें मना ही कौन करता है? अगले हफ्ते ही में सब ठीक कर लेना।"

सम्पतिया की व्यंगयपूर्ण मुस्कान बीनू के हृदय में धँस गई। उसने लापरवाही से कहा—"तो शहर में जाकर करना पड़ेगा।"

"शहर में ही सही, तुम शाम को वापस आ जाया करना, मैं यहीं रहूँगी। समझे!"

बीनू को क्या, जो चाहता था वही मिला। बोला—"अरी, पगली! तूने अभी शहर देखा ही कहाँ है? वहाँ चमाचम बिजली की रोशनी होती है। सुनता हूँ, चीलगाड़ियाँ आकाश में उड़ती हैं। अरी, क्या बताऊँ यदि एक बार भी तू वहाँ हो आवे, तो यहाँ रहने का नाम ही न ले।"

"रहने भी दो। तुम्हें अगर किसी की तारीफ़ करने को लगा दिया जाय, तो बस...।" सम्पतिया ने अपना मुख पति की ओर से हटा लिया।

"तारीफ़! इसमें तारीफ़ ही काहे की! अगर सच न मानो, तो चलो न! जी ऊबने पर वापस आ जायँगे। अभी कल ही तो बलदेव वहाँ से लौटकर आया है। कहता था, तस्वीरें नाचती और गाती हैं। और हाँ, तुम्हें भी माँग का सिंदूर ला दूँगा; समझी!"

सम्पतिया के खिले हुये गालों पर लज्जा की लालिमा दौड़ गई। उसने सिर नीचे कर के कहा—"मेरे लिये सिंदूर लेकर क्या करोगे? हाँ! अपने लिये बूट ले लेना।"

और बीनू हल चला रहा था। सम्पतिया खेत पर से चली आई। शहरों की तड़क-भड़क और नौकरी की इच्छा ने उसके हृदय में उत्सुकता भर दी। सारे दिन वह अपने पड़ोसियों से शहरों की विचित्रता के सम्बन्ध में बात-चीत करती रही। शाम होते ही उसने खाना बना लिया। फिर बीनू द्वारा मेले से लाई हुई हरी धोती पहिन कर पति की प्रतीक्षा करने लगी।

आज उसने अपनी पड़ोसिन से साबुन ले कर जीवन में प्रथम बार लगाया था, और बार-बार शीशे में मुँह देख कर सोचा भी—'अभी क्या शहर में चल कर मैं इससे भी अधिक सुन्दर हो जाऊँगी!'

नीले आकाश में दीप जल उठे। प्रकृति गम्भीर हो चली। सन्ध्या का प्रथम प्रहर भारी हो गया। सम्पतिया और भी उत्सुक हो उठी। ठीक समय पर बीनू आया। चादर पेड़ बाँध कर वह बैठक में कुछ गुनगुनाने लगा। फिर कपड़े उतार कर वह अन्दर गया।

सम्पतिया बैठी सोच रही थी—'चलो, शहर में रहेंगे! धूम-धाम देखेंगे, यहाँ क्या रखा है? राधे की अम्माँ भी तो शहरों में रहती हैं। वे चरित्रहीन नहीं हैं।

दूर से हरी साड़ी की चमक दिखाई पड़ी। बीनू की प्रतीक्षित आँखें चौंक पड़ीं। बोला—"अरे, तू तो अब टेठ शहर की-सी औरत बन गई है! अभी से, क्यों?"

सम्पतिया की आँखें नीचे झुक गईं। धीरे से वह बोली—"क्या शहरों की औरतें ऐसी ही हुआ करती हैं?"

वीनू हँस कर बोला—"फिर वही बात! कहता तो हूँ, चलो न! वहाँ राजा 'इन्दर' की-सी अप्सराएँ होती हैं। तू तो उन्हें देख कर ठग जायगी।"

"तो चलो, कल का दिन अच्छा है। पण्डितजी भी यही दिन बताते थे। अगले बुध तक वापस आ जायँगे। मैं कल्लू की माँ से दस रुपये उधार लिये आती हूँ, फसल कट जाने पर दे दिये जायँगे।"

"जैसा ठीक समझो, वैसा कर लो!"

आज सम्पतिया बड़ी लगन के साथ उसे खाना खिला रही थी।

× × ×

रुपहले प्रभात और सुनहरी सन्ध्या ने सम्पतिया के उत्सुक हृदय को आलोड़ित कर दिया था। अरमानों से लदे हुये प्रफुल्लित मन सम्पतिया और वीनू देहली के एक छोटे-से घर में बैठे थे।

वीनू ने बड़ी चेष्टा कर के एक दूकान किराये पर ले ली। उसमें वह पान-बीड़ी बेचना चाहता था। दूसरे ही दिन कुछ पान-सिगरेट और दियासलाइयों के बण्डल ला कर उसने दूकान में रख दिये।

छोटी होती हुई भी उसकी दूकान पड़ोस की दूकान से अच्छी थी। वह बाज़ार का रास्ता था। समस्त दिन मनुष्य चला ही करते थे।

वीनू ने एक सप्ताह पश्चात् एक दैनिक-पत्र के प्रेस में नौकरी कर ली। वीनू कुछ पढ़ा था, अतः थोड़े ही दिनों में उसे कम्पोज़ीटरी का काम मिल गया। दूकान पर बैठती थी अकेली सम्पतिया। कुछ दिनों तक तो वह सकुचाई, परन्तु फिर परिस्थिति ने उसमें बल, साहस और धीरज का मन्त्र फूँक दिया।

उसकी दूकान पर प्रायः नवयुवकों की भीड़ रहती। कोई-कोई मनचला कुछ गुनगुनाता हुआ हँस कर कह देता—"आज पान नहीं खिलाओगी?"

और सम्पतिया हँस कर हाथ बढ़ा देती। उसकी उस अनूठी, सरस मुस्कान में भी एक आकर्षण था। उसके ग्राहक उसी के पास आते थे।

सम्पतिया हँसती हुई सब से कहती—"लो, बाबू, बहुत दिनों में आये!"

रात्रि होती वीनू काम पर से वापस आता, दोनों में कुछ मीठी-मीठी बातें होतीं। फिर इस नये जीवन पर टीका-टिप्पणी होती, और उनके नेत्रों में नींद खेलने लगती।

× × ×

वह एक सुन्दर सवेरा था । सम्पतिया उस दिन प्रातःकाल से ही अपनी दूकान पर बैठी थी । नित्य की भाँति नवयुवकों का दल उमड़ रहा था । और वह सब को उनके इच्छानुसार पान-बीड़ी दे रही थी । उसकी उनींदी आँखें उस दिन किसी को ढूँढ-सी रही थीं । वह नित्य आता था । एक सफेद खद्दर का कुरता और चप्पल पहिने हुये । वह पान खाकर चुपचाप चल देता था । पहले ही दिन उसने पान ले कर उसके हाथ में एक रुपया दिया था, और सम्पतिया की भोली काली आँखें आश्चर्य से चमक उठी थीं । उसने उसे वापस करने की चेष्टा की थी । पर वह न माना था । बस, उसी दिन से वह उसे जानती और पहचानती थी । कभी-कभी वह हँस कर कह भी देता था—"चलो, आज सिनेमा देख आयें !"

पर सम्पतिया केवल मुस्करा कर रह जाती थी । उस दिन भी वह आया । वही प्यार की रुपहली छाया, वही ढीला पायजामा । इनी-गिनी अस्थियों के अन्दर सीमित सौन्दर्य की सच्ची प्रतिमा ! सदा की भाँति उसने एक रुपया निकाला और उसे उसके हाथ पर रख कर बोला—"लो, इसकी मिठाई खा लेना, समझीं !"

सम्पतिया चुप थी । शहर के मनुष्य बड़े दयालु होते हैं, यह वह खूब जानती थी । भीड़ कम हो चली थी, वह पास ही खड़ा सिगरेट पी रहा था—"चलो न !"

"ना, पाप होगा ।"

वह और पास आ गया ! स्थान जन-हीन था । उसने उसे पकड़ लिया । सम्पतिया चौंकती सी उठ खड़ी हुई—फिर झट से बोली—"यह तुमने क्या किया ? हाय ! यदि कोई देख लेता, तो...!"

वह एक ओर हँसता हुआ चला गया । सम्पतिया पान बेचने लगी । उस रात्री को वह बीनू से जी भर कर बोली भी नहीं ।

'चलो न !' वह स्वप्न देख रही थी । वही ढीला पायजामा और चप्पल पहिने हुये वह झूमता हुआ आया । और वह दूकान पर बैठी थी । उसने उसे मना लिया था, और वह उसके साथ चल दी थी । कोई उसे हिला रहा था । उसने आँखें खोलीं ; देखा—बीनू काम पर जा रहा था । वह हड़बड़ा कर उठ बैठी । फिर बीनू को काम पर भेज कर वह अपनी दूकान पर आकर बैठ गई ।

"चलो न !"

सदा की भाँति वह आया । सम्पतिया का स्वप्न मूर्ति हो उसके सामने खड़ा था । वह उसकी ओर देख कर कभी मुस्करा देती और कभी नाराज़-सी हो मुख फेर लेती ! सम्पतिया सोच रही थी इसमें हानि ही क्या है ? चलूँ, देखूँ ! सुनती हूँ, तस्वीरें चलती हैं, वह भी तो कह रहे थे । फिर ऐसा दयालु मनुष्य भी तो मिलना मुश्किल

है। कल वह 'ओवर-टाइम' करेंगे। बारह बजे तक आयँगे, तब तक वापस आ जाऊँगी। उन्हें ख़बर भी न होगी। कह दूँगी, दूकान पर थी।

सम्पतिया के मुख पर स्वीकृति की झलक देख कर वह बोला—"क्यों, क्या सोच रही हो?"

सम्पतिया मानो पृथ्वी में गड़ गई। कुछ झेंपकर बोली—"तस्वीरें चलती हैं! क्यों?"

"हाँ, हाँ, तभी तो कहता हूँ, चलो न! देखना कैसे नाचती-गाती हैं।"

सम्पतिया कुछ कहना चाहती थी। यहीं पर नारी की सारी शक्तियाँ पुरुष की कल्पना के परे अपना एक अनूठा रेकार्ड उपस्थित कर देती हैं। यहीं पर नारी पुरुष से बहुत बड़ी विश्व-सत्य की मूक प्रतिमा बन कर उसे सुझाती है कि मैं तुम्हारी उच्छ्वासों में मिल कर अमर होना चाहती हूँ।

"तो कल चलो!" वह शरमाते हुये बोली।

"कल ही सही!"

वह एक ओर मुस्कराता हुआ चला गया। रात भर सम्पतिया को नींद न आई। प्रातःकाल होते ही वह दूकान पर आ बैठी। वह ठीक छः बजे शाम को आया, वही ढीला पायजामा और चप्पल पहिने हुये। सम्पतिया ने दूकान बन्द कर दी।

घोर अन्धकार की संरचता में दो अपरिचित प्राणी न जाने कहाँ बढ़े चले जा रहे थे।

× × ×

वीनू स्वयं भी देहली-जैसे व्यभिचारपूर्ण नगर में आकर अछूता न रह सका। अपने साथियों के प्रोत्साहन से वह मदिरा का भी सेवन करने लगा था। प्रायः दो-दो, तीन-तीन दिन तक वह घर में ही न आता था। भोली सम्पतिया 'ओवर-टाइम' समझ कर संतुष्ट हो जाती।

उस रात को भी नित्य की भाँति वीनू नशे में झूमता हुआ घर आया। परन्तु यह क्या? घोर नीरवता में घर की ईंट-ईंट में किसी अव्यक्त वेदना की काली छाया काँप रही थी—सब अन्धकार था, वीनू सहम गया। सोचा—'अभी दूकान से नहीं आई होगी। परसों भी तो इसी समय आई थी।' उसने उठ कर मिट्टी के तेल की डिबिया जलाई, फिर कुछ सोच कर उसे बुझा दिया।

टन! टन!!

घड़ी ने दो बजाये। वीनू की पथराई हुई आँखों में तंग गलियाँ घूम गईं। फिर गाँव की हरी-भरी भूमि। और कुछ देर बाद सम्पतिया का सरल भोला मुख! उसका हृदय ज़ोर-ज़ोर से धड़क रहा था। उसकी आँखों में नींद हँस रही थी। उसे स्वप्न हो रहा था, देखा—वह गाँव के अपने खेत जोत रहा है। बैल चुपचाप चले जा रहे

है, और सम्पतिया कुछ दूर से वही पीतल की छोटी-सी कलसी लिये हुये चली आ रही है। वह उसे ग्रामीण जीवन पर चिढ़ा रहा है और 'वह' प्रकृति की एक सरस रचना गाँव छोड़ना नहीं चाहती! वीनू की आँख खुल गई, कोई न था। केवल वही; अकेला, निर्बोध अबोध! प्रातःकाल की अरुण किरणें उसके लिये न जाने कितना दारुण संदेश लाई थीं। वीनू काम पर चला गया।

एक सप्ताह हो गया। वीनू अब प्रायः घर में ही न आता था। सम्पतिया की भी उसे चिंता न थी। समस्त दिन वह शराब के नशे में चूर हो प्रेस का काम करता, और रात होते ही किसी वेश्या के यहाँ चला जाता। उसका जीवन उल्लास और उन्माद की ज्वाला में झुलस रहा था।

× × ×

आज अपना एक मित्र उसे एक नवीन वेश्या के पास ले जायगा, इसीलिये तो उसने साफ़ कपड़े पहने हैं। ठीक समय पर वह चल दिया।

वह एक तीन मंजिले पर का कमरा था। सड़क की दाहिने ओर होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति की उस पर दृष्टि जाती थी। वीनू धीरे-धीरे उसी की ओर बढ़ रहा था।

कौन जानता था कि उसकी अपनी भोली सम्पतिया इसी विशाल प्रासाद में बैठी हुई आज पतन और अवनति के गर्त में गिर कर संसार पर राज्य कर रही होगी? कौन कह सकता था, एक सरल ग्रामीणा आज अपने रूप और यौवन से नागरिकों की वासना की तृप्ति कर रही होगी?

वीनू चुपचाप उसी की ओर बढ़ रहा था। उसके हाथ-पैर काँप रहे थे, हृदय धक्-धक् कर रहा था। मन कुछ सोच रहा था—शायद सम्पतिया के ढूँढ़ने की ही बात हो। आज वह एक नवीन वेश्या के पास आया है, तभी तो आरम्भ से ही उसे उदार और स्नेही बनना चाहिये। इसीलिये तो वह मैनेजर से चालीस रुपया उधार ले घर आया था। तो क्या वह सचमुच उसे अपना आहत हृदय सौंप देने के लिये ही आया है। वीनू सीढ़ियों पर चढ़ रहा था। विचारों में नवीनता आने लगी, कल्पना ने प्रत्यक्ष का स्थान ले लिया।

एक अल्हड़ सुकुमारी बैठी पान लगा रही थी।

वीनू की आँखें खुली रह गईं। पाश्चात्य पाउडर और लवेण्डर से ओत-प्रोत होते हुये भी उसका मुख वीनू से छिपा न रह सका। धीरे से उसने कहा—"स...म...ति...या!"

वह पहले से ही अन्दर जा चुकी थी। पीछे से कुछ गिरने का शब्द हुआ।

वहाँ तो कूद पड़ी थी।

दूसरे दिन प्रातःकाल पुलिस 'वीनू' को पकड़े हुये थाने की ओर लिये जा रही थी।

दो काली-काली लकीरें

उर्मिला टी-सेट लेकर आई।

निशिकान्त बैठा अख़बार पढ़ता रहा।

उर्मिला ने टी-सेट मेज़ पर सजा दिया, पर कुछ बोली नहीं। ज़रा गौर से अपने आपको महसूस कर वह शरमाने-सी लगी। एक मूक दायरे में जैसे वह नारी अपनी भावनाओं को फैला, पीड़ा को बिखेर, छिपी रहेगी।

निशिकान्त ने उसे देखा और देखा, कप से उठती सफेद-सफ़ेद भाप को। चटपट बोला—"अभी खा...बिस्कुट-चाय...सब-सब...और भूख नहीं है?"

उर्मिला जैसे कट गई हो।

वह अवहेलना की तह में पहुँचे क्यों? वह चाय बनाये; लाये और फिर इस निशिकान्त का जी पीने से क्यों हटे? चाय छानते-छानते हाथ जहाँ जल गया था, वहाँ ज़रा अधिक दुखा। दुखा और उसकी वेदना से तिलमिला कर वह बोली—"भूख हो, तो खाने में अहसान क्या?" और वह उसे घूर कर एक ओर मन्थर गति से चली गई।

यह सब भी निशिकान्त के लिये थोड़ा है। उर्मिला की उलझन से उसका मन भीग जाता है। उसे अपने से दूर हटा कर भी जैसे उर्मिला तकरार और बढ़ा गई, पर वह तकरार की ओट में आ, ज़रा गुस्सा हो, अपनी वेदना यहाँ डाल क्यों गई? भूख उसकी है। उसका लगाव उसने आज तक अपने से पाया है। फिर उर्मिला को वह कैसे इसमें शामिल करे? और उर्मिला आई नहीं, तो सोचा—'यदि वह ज़रा पी लेता, तो क्या उर्मिला उसे बुरा कहती।'

निशिकान्त ने ज़रा सँभल, सिगरेट जलाई। आँख दीवार पर लगे एक आयल-पेण्ट पर रुकीं, फिर मेज़ पर बिछे मेज़पोश पर कुछ देर ठहरीं। याद आई, इसी मेज़-पोश के लिये उसने पारसाल डैमसिल के गुल्लों का तक़ाज़ा किया था। छुट्टी में पढ़ाई से छूट जब वह घर आया, तो उर्मिला ने एक छोटे बच्चे की ओट ले सुनाया था—"खूब, कोई यहाँ गुल्लों का रास्ता देखे, और कोई वहाँ जा मजे से सोता रहे।"

निशिकान्त मज़ाक़ का शिकार बना।

बात उन पर कही गई थी।

फिर भी वह चुप रहा। ज़रा जमा, तो एक मूक छाया का ध्यान आने लगा। वह उस छाया का मिलान उर्मिला से करता, और ठीक उसे ऐसा लगता, जैसे उर्मिला उसकी कोई रही हो! पर निशिकान्त उसकी पकड़ में न आता, न आता, न आता!

उर्मिला सोचती—'यह निशिकान्त भी कैसा पुरुष है। वह मेरी भावनाएँ बूझता ही नहीं। सवाल को सुन, ज़रा ऊब, तुरत-सा ऊपर-ऊपर का जवाब दे देता है, और वह इसे कहे भी क्या?'

निशिकान्त उसे पहले से जानता है। तब भी वह उसकी ख़याली झलक पा, अन्य लड़कियों से मिला।

वह रिश्ते में उसकी बुआ की लड़की थी।

कुछ छुट्टियाँ बीत चलीं, तो एक दिन उसने सिनेमा का प्रोग्राम क्यों बना डाला और उसे सुन, अपनी खिली-खिली आँखों को घुमा उस बनी-बनाई स्कीम में उर्मिला समूची समा क्यों गई? साड़ी में वह व्यस्त-व्यस्त नारी कुछ-कुछ भरी-सी केवल मूक कल्पना-सी सोची-समझी न गई। धीरे से बोला—"ज़रा रुक, ठहर! खा कर दूसरे शो में चलेंगे।"

उर्मिला अपने में समा गई।

कुछ बोली नहीं। चुपचाप रही। मन की बात थी, वह पूरी उतरी। थोड़ा-सा ठहर, मन में धीरे-धीरे उसके सामने से हाँ कहती-कहती 'चलना ज़रूर!' एक ओर चली गई।

बात कहने की थी, कहाँ, उसे निभाना क्या? टालने का बहाना ही ठीक जँचा। और वह कहाँ जाना चाहता था? खुद समझ न पाता।

उर्मिला उसकी बात लिये बैठी रही। रात में जब सब सो गये, तो वह आई, ज़रा और आगे बढ़ी, तो देखा—निशिकान्त चुपचाप सो रहा है। कुछ बोलना अच्छा न लगा। मन मार कर लौट आई। दूसरे दिन धीरे से कहा—"वाह! सिनेमा देख कर तो पेट भर गया!"

निशिकान्त फिर बोला नहीं। बात उसी पर थी। कुछ उलझी-उलझी वह कहीं रही। उर्मिला नज़दीक से बाहर रही। सोचा—'उर्मिला ठीक कहती है। एक पैसे में का क्या हम उसे सच न कहेंगे?'

एक दिन निशिकान्त पकड़ में आ गया। उसकी माँ का अनुरोध वह टाले कैसे! बोली थीं—"लो निशि! इसे सिनेमा दिखा ला, मान जाये है।"

और निशिकान्त 'न' नहीं कर सका। सखियों के साथ चलने की बात थी। वे भी चलीं। निशिकान्त बैठा आगे, उर्मिला और सखियाँ पीछे। कुछ न कहते बना उससे चुप हो, सोचा—'यह उर्मिला भी लड़की है। कुछ कहती नहीं, ज़रा झेंप, हँस भर देती है।' और खेल शुरू हुआ...। दिमाग़ी उर्मिला आगे रही, अपनी छाया बिखेर हँसती-हँसती।

उर्मिला की कल्पना...और मन की नारी को, पास की उर्मिला से मिला वह चौंका। व्यावहारिक धोखे में आ क्या यह अलग न होगी? उसी समय जैसे उर्मिला पान का बीड़ा बढ़ाती हुई कहने-सी लगी—"हाँ, हाँ, हाँ!"

दूर से हट उसकी आँखें जब उर्मिला पर पड़तीं, तो वह अपने को छिपाती नहीं। लाज वह क्यों करे? अपने से!

छिः छिः छिः!

और निशिकान्त विचारों में पड़, उस गहरी लुका-छिपी को सहन न कर, नीचे गिरी हुई आँखों में कुछ ढूँढ़ लेता, जैसे किसी का चित्र रहा हो, एक युवती-का-सा! उन आँखों में इतना वह दब गया कि बैठना अच्छा न लगा। बस, चुपचाप उठा, और बाहर ही पार्क में आ, सोचा—'ज़िन्दगी जैसे कलेण्डर की एक तारीख़ रही हो, जिसे फाड़ कर सारे कर्त्तव्य को निभा, चुप हो जाना पड़ता हो। फ़ुरसत के दायरे में भूल, जैसे उसे अपना ही 'रूटीन' बनाने में एक गहरी दिक़्क़त पड़ती हो, और यह उर्मिला...।' सामने उर्मिला को देख वह चौंका! उर्मिला ने देखा कि निशिकान्त पार्क में पत्थर की मूर्त्ति के पास चुपचाप खड़ा था।

ज़रा पास आ, झिझक कर उसने कहा—"चलो, ऐसे कोई बीच में ही भाग आता है?"

"बीच में ही...?"

"और क्या तुम्हें यह न लगा कि तुम्हारे साथ और कोई है?"

उर्मिला कहती गई—"मैं कुछ नहीं जानती, आपको चलना पड़ेगा।"

"लेकिन उर्मिला मैं कहता हूँ कि आज 'मूड' में नहीं हूँ। तुम जाओ, मैं न जा सकूँगा।"

और ज़रा वह पास आई। बीच में पत्थर की मूर्त्ति, और सजीव उर्मिला! सामने हरी-हरी घास, पीछे सिनेमा का बड़ा-सा मकान—एक मानवी दम्भ-सा...। बोली—"मेरी बुराई होगी।"

और निशिकान्त ने मूर्त्ति के सहारे खड़े हो, देखा—एक भोली नारी की छाया को गहरे काले रंग की साड़ी में, ज़रा खिली-खिली, बिखरी-बिखरी वेदना वहाँ पर फैली। उससे वह उलझने लगा, जैसे पत्थर की मूर्त्ति उर्मिला में बदल रही हो।

"ओ निशि, मैं हूँ! मुझे देखो, लो मैं तुम्हारे सामने हूँ...!" फिर पीछे उर्मिला की हिलती साड़ी को देख कर वह चौंक कर बोला—"मैं अब न जाऊँगा। ज़िन्दगी में कुछ ऐसा हुआ है कि पकड़ नहीं पाता। तुम जाओ!"

ज़रा और सरक कर सिगरेट जलाई, और धुएँ को छोड़ कर सोचने लगा, मानो वह एक दार्शनिक की भाँति जीवन का सत्य मालूम कर लेगा।

खड़ी हुई उर्मिला ने सोचा—'कुछ अधिक बोलना ठीक नहीं है।' एक सम्मान से उभरा प्रश्न सामने आया। खुद ही फैसला किया, अधिक खुशामद क्यों? कुछ बोली नहीं, चुपचाप छाया-सी बढ़ कर अन्दर आई।

इस घटना के बाद ही यदि ज़िन्दगी का सूना स्वप्न टूट, ख़त्म हो मिल जाता, तो ठीक होता, जैसे यह सब-कुछ दीर्घ, काली रातों-सा असफल, और मौन-सा शून्य हो। सिर्फ़ मन की हँसी से खेल अपने को खोना ही जैसे होनहार है। यह होनहार वेदना की ऐसी मैली लकीर निशिकान्त में डाल गया है कि वह पकड़ नहीं पाता। जैसे सारा दुख अपने में समाय जमा रहेगा। फिर काम करते-करते निशिकान्त को लगता जैसे उर्मिला आई हो। गुलाबी हलके रंग के जम्पर में वह और भी खिली-खिली है। अलग-अलग 'स्केचेज' और 'पोज़ेज' से उसे मिलाता। पुरानी 'डबल साइज़' और नई 'फुल साइज़' स्टिल्स की हँसती नारी से मिलाता, उर्मिला की हँसी भी ठीक इसी प्रकार की है। वह भी सहारा पा ऐसी ही हँसी बिखेरती थी। उसकी भी पकड़ से बाहर उलझन से दूर एक बनी-बनाई भावना थी, और यह पोज़...कुछ बिखरे-बिखरे बाल, खुले-खुले अंग। नारी का एक पूरा जमाव, निरी कोमलता। दूर पर उर्मिला कहती-सी लगती...हाँ, मेरी भावुकता...पोज़ की कोमलता...और ...तुम...!"

एक दिन पढ़ने बैठा, तो लैम्प जल उठा, जल उठा पास के एक 'पोज़' को साथ में लिये। जल्दी में बुझाया, तो बुझा नहीं। नीली साड़ी में ढँकी हुई एक एक नारी ओठों पर मलिन हँसी—एक शून्य-सी, गहरी-गहरी, पसरी-पसरी...उससे देखा गया नहीं।

हाथ चले, और अब वह पोज़ आधा ही रह गया था। निशिकान्त ने सोचा, यह अधजला चित्र सारी श्रद्धा बँटा रहा है। नारी के मोह का क्या यही रूप है! मोह? वह रुका। उसने उर्मिला को भ्रम में डाल क्या मोह नहीं बँटाया? सिनेमा से उठ, उसे पीड़ा दे क्या वह कर्त्तव्य निभा चुका?

ज़रा लेटा, तो पास का चित्र जैसे कहने लगा—"उर्मिला! उर्मिला!"
और फिर...

"मैं जली, मैं जली !"

फिर-फिर ?

घटना उभर-उभर आने लगी ।

फिर कब उसके छोटे भाई ने अपने आप उसके बुने हुये 'पुलोवर' को पहिन लिया था । और उसे देख ज़रा रूक, गुस्से मे जल वह कमरे से बाहर कान पकड़ घसीटती-सी लाई थी, कहती-कहती—'ले, और पहिनेगा, जैसे तेरे ही लिये तो बुना हो ।' बच्चा कुछ न बोला । दालान पार कर चली, तो निशिकान्त को पा कुछ झेंपती-सी हँस, जरा साड़ी को सँभाल जल्दी की जाने की । जैसे वह उसे कुछ समझ न ले ।

और निशिकान्त ने सोचा—'क्या वह उर्मिला को कभी भी भूल सकेगा ? नारी की भावनाओं से उर्मिला की पकड़ से दूर हो क्या वह बदलेगा नहीं ?' 'पुलोवर' का सहारा पा वह उर्मिला, नारी खूब हँसी । अपने से ही खेल और हँस कर, सट कर जैसे वह एक पहेली ही बनी रहेगी । बस !

कुरसी खींच बैठा, तो उर्मिला साड़ी बदल, नई हो एक ओर से हँसती हुई आई, और हाथ बढ़ा, ज़रा रूक, पान की तश्तरी मेज़ पर रख कमरे से बाहर हो गई । जाती उर्मिला को पारदर्शी शीशे ने बहुत दूर पहुँचाया । एक उलझन की बात उठी । उर्मिला गुत्थी बनी उसके मन में फैली वहीं भटक रही । वहीं अटक-झगड़ भर गई मन में; बात खुद में खो गई । कुछ समझ में न आया । और शीशे के उस पार खड़ी हुई उर्मिला ने देखा—निशिकान्त बैठा हुआ कुछ सोच रहा है । यह खोटापन उसे छू, महत्व से हटाता ज्यादा भला नहीं लगा । मन-झुकाव का बहाना था, वह पूरा उतरा । ऐसा कि निशिकान्त हाथ बढ़ा, पान उठा, मुँह में रख ज़रा अपने में आ भर गया है ।

और कमरे में बैठे निशिकान्त ने सोचा, यह उर्मिला पान में अधिक चूना क्यों लगा लाई ? क्या यही उसे देना था ? वह उठा, और पान थूक, उसे फेंक, सिगरेट जला, उसमें खो, सोचा—'यह सुन्दर नारी कब तक उसके मन से खेलती रहेगी ? जो उसमें बैठी लुका-छिपी करती, एक रहस्यपूर्ण गृहस्थी जुटाती, दूर-दूर छाया की भाँति हँसती—भागती......!'

उर्मिला की बन आई ।

देखा, पान फेंक दिया । हँस, हाथ में 'पुलोवर' ले ज़रा गहरी आँखें घुमाती सामने आई ।

उसे पा निशिकान्त चौंका, फिर जरा सँभल कर पूछा—"प्रेम से खिलवाड़ करना कब से सीखा ?"

और उत्तर मिला—"जब से प्रेमी ज़रा से कष्ट को न सह, याद हटा, किसी को भूल, विश्वास खोने लगे !"

बस, आगे कुछ पूछना आवश्यक न लगा ! चुप हो उर्मिला खड़ी रही। सोचा, जो कुछ उसने पूछा है, वही क्या कम है, जो और पूछ मन को हलका करे ? अपनी गलती उस रीती जगह में फैली पाई उसने। पान का सहारा पकड़, चूने की ओट में वह बाहर-बाहर आना-जाना चाहती थी। अपने मखौल से अब, खूब सँवर-बन मह सौंप गई उसे। अब उसने पाया, यदि वह पान खा ही लेता, तो क्या...

नीचे बैठी दो-चार फन्दे डाल, वह बोली—"मैंने तो जाना था, आप उसे खा ही लेंगे !"

"मैं...!"

"पर उसे फेंक, जैसे आपने एक उलझन से पीछा छुड़ाया हो...क्यों ?"

और निशिकान्त उसे कैसे समझावे ?

आज उसका जी एक भीतरी वेदना से लबालब भर गया। उर्मिला के आगे वह जीत सकता नहीं। बल्कि ज़रा दब, झुक और भी पीड़ा से ऐसा हो जाता है जैसे पीड़ा फट बाहर आना ही चाहती हो।

"ज़िन्दगी में पीछा छुड़ाना पाप है। मैं उसे कैसे पा सकता हूँ। और यह जो दूर-दूर रोमांस है, वह क्या ऐसा ही काला-काला रहेगा ?"

और उर्मिला कट गई हो जैसे।

फिर हाथ का पुलोवर ले, उसमें उलझ सोचा—'ज़िन्दगी ठीक-ठीक क्या ऐसी ही बीत जायेगी ? और यह निशि क्या कभी सोचेगा कि मैं कौन हूँ ?' निशिकान्त ने मन बँटा पूछा—"कितने में 'पुलोवर' बन जाता है ?"

उत्तर मिला—"आजकल ऊन का क्या भाव है ?"

और निशिकान्त ने कहा—"ऊन कई तरह का होता है। गुच्छों से अच्छी घन, नन्हीं-नन्हीं अँगुलियों से खेल, रंग-बिरंगों में आ वह उलझ भर जाता है। उसकी भी कहानी होती है। फिर लाल इमली के ट्रेड-मार्क से क्या होता है ? धारीवाल और बाम्बे ऊलन मिल्स का ऊन अधिक बिक, 'पुलोवर' के बहाने किसी के पास पहुँच, किसी व्यावहारिक प्रश्न को सुलझा, किसी की गहरी याद-सी हो रह जाती है।"

'व्यावहारिक प्रश्न...एक याद-सी...' यह सब वह क्या करे ? न उसे सुनना था, न उसने सुना ! बात खरी लगी। ज़रा उलझी बातों को छिपाना था। वह पूरी उतरी नहीं। सोचा, बहाना बुरा नहीं। फिर चौंक उठी, साड़ी सँभाल ली कहती-

कहती—"अरे, आगरे से लाया हुआ ताजमहल तो दिखाया ही नहीं, माफ़ करना! ज़रा चूक जाती हूँ।"

'पुलोवर' रख अन्दर गई। फिर उसे ले हँसती-हँसती आई। मेज़ पर जमा बोली—"पिछले महीने में लाई थी। बड़ा सुन्दर है!"

देख, निशिकान्त के मन में अनजाने बात उठी, वह इस दिलबहलाव को ले कर क्या करे? दिलबहलाव! हूँ ठीक ही तो...लगा। उर्मिला भी तो दिल का एक खेल है। वह उस खेल में अपने को छुपा, उसे छू, ज़रा पास आना चाहती है। मानो खेल का बहाना पा कर जैसे उर्मिला ने कहा—"मैं खेल हूँ...? छिः, अरे! वह एक मनबहलाव है? देखो, अपने से बाहर उसे नष्ट मत......।" और पास रखा हुआ पत्थर का ताजमहल जैसे हिला, हिला और नीचे गिर कुछ निर्जीव टुकड़ों में परिणत हो गया।

अब निशिकान्त चौंका—ज़रा सँभला तो देखा, उर्मिला ने मेजपोश खींच, ठीक शिष्टाचार में ला बराबर रख दिया था।

एक बात थी। वह निजी व्यक्तिगत, कुछ कहते न बना। ज़रा-सा धुआँ निकाल, अपने को खो, उसने सोचा—'जैसे आज वह इस ताजमहल का सत्य बँटा लेगा!'

उर्मिला की आँख ताजमहल पर टिकी। फिर ज़रा, बैठे हुये निशिकान्त पर भी। बात उठी धीरे-धीरे, यह ताजमहल का गुम्बज ही क्यों टूटा? वहाँ, वहीं जो समूचे ताजमहल को खिला रहा था। और उससे लगी वह छोटी-सी 'मुमताज' की ख़याली क़ब्र! उसमें सोई दिल की कहा......नी! निशिकान्त पर गुस्सा आया। दिखाने की उलझन थी।

और निशिकान्त ने अपने को सुलझाते हुये कहा—"पुरुष अपनी यादगार छोड़ जाता है। एक घोंसले में टिके मन पर, सारी ज़िन्दगी निभा—दुःख बाँट जाता है, ताकि वह घोंसला टूटे नहीं। नहीं ही टूटे।"

"आगरे में बहुत अच्छे ताजमहल बिकते हैं।"

उर्मिला बोली—"वे आपको ही मुबारक हों!"

और निशिकान्त ज़रा शरमाता बोला—"मुमताज खूब सुन्दर रही होगी! उसकी खुली-खुली मुसलमानी सभ्यता में डूबी-डूबी आँखों से शाहजहाँ उलझ गया था। सिवा मुमताज के उसके जी से और कोई खेला भी था। ज़िन्दगी का सफ़र पूरा करते-करते वह तनिक अटका था। और तभी जैसे मुमताज में अपने को गला, सौंप वह बादशाह मन का हो गया था।

मन का?

बात फैली—वह भी तो मन का है ! ज़रा उर्मिला से उलझ गया है। और मुमताज ? वह कल्पना में कैसी डूबी सुनहरी शलवार से ढँकी...ज़रा खुले-खुले बाल...नीले फीते से बँधे। तभी दूर जैसे उर्मिला मुमताज से लग कहने-सी लगी, "ज़िन्दगी एक स्वप्न है। वह बादशाह था बात निभा ली। पर हम अपने बाहर क्या यादगार रखें ?"

ज़रा और बोली—'जैसे मेरा भी ताजमहल बनवाओगे ! बोलो...! यह तुम कहते हो...निशि...!' और निशिकान्त ने धीरे-से हामी भरी। जैसे हामी भर वह अपने उत्तरदायित्व से झगड़ रास्ता बना लेगा।

'यादगार रखना एक ज़रूरत है' जैसे वह एक हलकी याद में आ भूल कर कला की चीज़ ही अपना रूप ले लेती हो।'

और उर्मिला उन पत्थर के टुकड़ों से खूब झगड़ी थी। उन्हें उठा बाहर फेंकने गई। गई और फिर आई।

निशिकान्त शाम को उठा, तो उर्मिला का छोटा भाई सामने पड़ गया। चटपट पूछा—"तेरी दीदी कहाँ है ?"

और उसने सुनाया कि दीदी उर्मिला शान्ति के साथ सिनेमा गई हैं।

बस, फिर कुछ पूछा नहीं। सोचा, यह उर्मिला आज अकेली क्यों गई ? ज़रा पास के चित्र पर आँखें टिकीं, वह चिल्लाने-सा लगा—'उर्मिला ! उर्मिला !'

निशिकान्त घबरा गया ; उठा, और आलमारी खोल, मनीबेग निकाल, कोट पहिन चल दिया।

लॉन की पत्थर की मूर्त्ति के पास आकर देखा, खेल शुरू हो चुका था। कुछ जाते न बना। एक गहरी याद कुहरा-सी छायी रही। चुपचाप झुक, सिगरेट जला, मूर्त्ति से लग, अपने में खो गया। पास लम्बे-लम्बे हाथ...सुडौल चिट्टा शरीर...निरा पाषाण...जैसे वह पत्थर की मूर्त्ति सुझा रही हो कि मैं हूँ नारी। वही, वही जो तुम्हारे अन्दर ज़रा बिखरी-बिखरी है...। आगे दिमाग़ी उर्मिला का खाका आया। तभी जैसे किसी ने उस मूर्त्ति में प्राण भर दिये हों, कहने लगी—'मैं उर्मिला हूँ, उर्मिला !' फिर सारी कोमलता में सजीवता ला पास आ जैसे वह पत्थर की उर्मिला अपने दोनों हाथ फैला बोली—'मैं हूँ, ओ निशि ! तुम डरो मत, मुझे लो।' और उस स्तब्ध भ्रम के आमन्त्रण को निशिकान्त अस्वीकार न कर सका। बढ़ा ! ज़रा और बढ़ा। फिर उस मूर्त्ति को हाथों में समेटे खड़ा रहा, कि ध्यान बँटा—पीछे से किसी ने ढेले फेंके थे। किसी को न पा वह मूर्त्ति से और भी सट चिपटा-चिपटा रहा। जैसे वह उर्मिला ही रही हो। धीरे-धीरे बोला—"उर्मिला ! उर्मिला !"

ऊपर मूर्त्ति से टकरा कर फिर ढेला गिरा। और अब जैसे उसने पहिचान लिया हो, ज़ोर पुकारा—"उर्मिला !"

दूर पर एक हलकी छाया में उर्मिला को देख वह मूर्त्ति से हट नीचे उतर आया। देखा वह छाया। उर्मिला हिली नहीं, बल्कि वैसे ही खड़ी की खड़ी रही। बोला—"जो अप्रिय सत्य है, वही जीवन का रूप है। और उसी रूप पर हम अपनी ज़िन्दगी की दीवारें खड़ी करेंगे।"

पर उर्मिला बोली—"चलो, बड़ी रात हो गई। तुम यहीं ? घर पर रास्ता देखा जा रहा होगा।" कह कुछ आगे बढ़ गई।

निशिकान्त अपने से बाहर आ बोला—"तुम नाराज़ हो, उर्मिला ?"

"कौन; मैं ?"

"हाँ !"

"भला कोई मेहमान से भी नाराज़ होता है ?"...कह खड़ी सँभल, खूब सँवार, बना कर हँस भाग गई।

खिली चाँदनी से भागती हुई उर्मिला-छाया।

पीछे पत्थर की मूर्त्ति !

ज़रा दूर पर सिनेमा का विशाल भवन, और आगे हरा-हरा लॉन...सब-सब।

निशिकान्त ने सोचा, उर्मिला बचपन की तरह क्या सदा ही बनी रहेगी।

रात की गाड़ी से जाना था। उर्मिला को मालूम था कि छुट्टियाँ बीत चुकी हैं। कुछ रोकते न बना। और निशिकान्त अपनी पीड़ा सँभाल उसी साँझ को चला गया।

× × ×

ज़िन्दगी का एक अरसा गुज़र जाने के बाद कभी-कभी लगता है, जैसे कोई घटना अभी ताज़ी रही हो ? उसे छुपा, सारा काम छोड़ कर भी सुख नहीं मिलता है एक सूनापन लिये। निशिकान्त ने बात की बात में दो साल निकाल दिये। इस बीच उसे उर्मिला की याद खूब आती रही।

एक दिन वह कमरे में बैठा चित्र बना रहा था। हलकी-मोटी कूँचियाँ, और अलग-अलग प्यालियों में रंग। हाथ चल रहे थे। पतली-दुबली, ज़रा उभरी हुई नारी...गहरी नीली साड़ी से ढँकी...अधखुली आँखें...हँसती...हँसती जैसे वह चित्र चिल्ला उठा—'उर्मिला ! उर्मिला !'

फिर जैसे चित्र का एक हाथ अपने आप उठा। लिखा देखा—'उ...र्मि...ला !'

निशिकान्त घबरा गया। चित्र रख दिया। फिर रात भर सो न सका। सवेरे पोस्टमैन ने लाकर तार दिया।

'उर्मिला सख़्त बीमार !' एक ही लाइन थी।

कपड़े पहिन बाहर निकला, तो गाड़ी छूट गई। फिर दिन भर, रात भर कोई गाड़ी नहीं थी। दूसरे दिन सवेरे ज्यों ही स्टेशन जाने के लिये ताँगे पर पैर रखा, त्यों ही डाकिये ने एक लम्बा सलाम ठोका और तार उनके हाथ में दिया।

"उर्मिला का देहान्त!"

दो काली-काली लकीरें थीं!

निशिकान्त सब कुछ समझ गया। सीट से उठा, सिगरेट जलाई, फिर उस जली हुई दत्ती को तार के फार्म में दिखा, खिड़की के बाहर फेंक सोचा—यह सब क्या है? क्या उर्मिला सचमुच...? आगे सोच न सका। तभी जैसे उर्मिला ने झिलमिल-झिलमिल करती हँसती उन दो काली-काली लकीरों वाले धुएँ से उठ कहा हो—'हाँ, अब तुम मुझे ऐसा ही समझो। तुम्हारी बाट देखी, पर तुम कहाँ आये? बच सकी नहीं। फिर तुम बड़े भी थे...तुम्हारी माँ कहाँ...और...!'

आगे निशिकान्त कुछ न सोच सका। वहाँ एक गहरी वेदना कारबैंकिल के फोड़े के माफ़िक छाई रही। तार के सामने की दो लाइनें सामने आ टिक गईं। टिकी ही रहीं।

उन लकीरों को कौन मिटा सकता है?

असह्य भार

और वह करे भी तो क्या? मन उसके है, हृदय भी है। उसमें ज़रा-सी याद भी सिरजी है। वह याद, वह निकाले कैसे...कि उसने कहा था कि—अचला, देखो, ज़रा अपने को समझ लो; मैं और कुछ चाहता नहीं। केवल तुम्हें तुम्हारा ज्ञान भर कराना चाहता हूँ। तुम नारी हो। स्वामी की बिखरी हुई धरोहरों को समेटोगी। और फिर भी क्या उससे पृथक् रह सकोगी?

यही होनहार है। यही विधि का विधान है। और अचला ने अपने को समझा, तनिक अपने मन में लग पाया—वह नारी है। ठीक, स्वामी उसे चाहिये। प्यार की भूख है उसमें। पर वह क्या उससे सन्तुष्ट हो सकेगी। और सुनील? वह स्वस्थ है, सुन्दर है, अपनी भावुकता में दबा है। पर उसका स्वामी उससे पृथक् होगा—सुनील की अटक से बहुत दूर। शायद उससे अधिक ग्रेजुएट; सुन्दर भी।

वह एक व्यवस्थित गति में चूक जाती है। उसकी चूक मन की लकीरों के बोझ से दब बाहर होना चाहती नहीं है। ये लकीरें सुनील पढ़ चुका है। वह उसे क्या करे कि लकीरें कुछ मलिन हो उठती हैं। जैसे सुनील उसे रुला-रुला कर उन्हीं लकीरों में अपना अस्तित्व घुला देगा, और जैसे वह इसे कहाँ सहेगी?

एक संध्या को उसने स्वामी का हाथ पकड़ा था। उस समय उसे क्या पता था कि सच ही तो वह स्वामी बातों-बातों का हो उसे अपना न सकेगा। उसी की भूलों में फँस, एक सीमित दायरे में आ वह केवल नारी भर रह जायगी। सुनील दिन भर आया नहीं, उसकी आँखें पथरा गईं। प्रतीक्षा वह क्यों करे और कहाँ तक? उसका जी उसे देखने को हो रहा था। वह धीरे से तनिक उसके जी से लग हँस, मुस्करा कर समझाना भर चाहती थी—'ओ, सुनील, नाराज़ न होना। मैं अपने में बँधी हूँ। मेरी यह विवशता परमात्मा की देन है। तुम्हें समेटना चाहने पर भी समेट पाई नहीं। मैं नारी जो हूँ! स्त्रीत्व का ख़्याल कहाँ मुझे तुम तक आने देता है! पर मैं कहूँगी कुछ नहीं। मेरा मन तुम्हीं में रमा रहता है। चाहती हूँ... कि तुम में बँधी रहूँ।'

शाम को सुनील आता हुआ दिखाई दिया—कुछ भारी-भारी-सा। अपने में

छुपा-धरा पुरुष ! और वह उससे कहाँ कह पाती थी—'स्वामी'......और उस दिन वह कुछ बोली नहीं। केवल चुपचाप खड़ी रही, कुछ दबी-दबी। सुनील की बातें वह निभायेगी। लेकिन...! सुनील पास बैठा था। उसकी अनजानी छाया को वह बाँधेगी।

और कल ? उसका स्वामी उससे अधिक रोमैण्टिक होगा। लगा—वह स्वामी अधूरी यादों का पुतला-मात्र है; एक महान् अतीत का बाहरी ख़ाका-सा। वह स्वामी उसे अच्छा लगता है नहीं। अधिकारों और अनुरोधों के बीच की गहरी खाई को वह भाँप गई थी, कि सुनील बोला—"रात भर नींद आई नहीं है। रह-रह लगता रहा, मानो कोई मुझसे मेरी कला माँग रहा है। एलेक्जेण्डर-पुशिन के स्कूल की एक कहानी लिख रहा हूँ। आज उसका दूसरा भाग समाप्त हुआ है। वह कहानी अपने जीवन की एक जीवित चीज़ है। एक अरसे का अनुभव उसमें रख चुका हूँ, उसे शीघ्र ही समाप्त करना है।"

और अचला ने देखा; नींद-भरी आँखों से वह ताक गई। सामने काग़ज़ों का एक बण्डल रखा था।

उसने उसकी बहुत-सी कहानियाँ 'फेयर' की हैं। दिन-दिन भर, रात-रात भी वह उसके पेन्सिल से लिखे हुये काग़ज़ों को सेंतती रही है। तभी, कभी-कभी उसने उसे समीप भी पाया है। घर के एक कोने में तभी उसने कुछ क्षण टिक कर सुनील के विषय में अपनी धारणायें बनाई हैं। उसे वह भाता रहा है। घर से लगा हुआ है, उसका घर, उसी में उसने सुनील को पहिचाना है। उसकी भोली-भाली छाया को पढ़ा है। और वह भी तो युवक है। उसको भी कहीं, किसी का सहारा पकड़ टिक जाने की ज़रूरत मालूम पड़ती होगी। कहानियों को साफ़ करते करते वह अटक कर सोचती तो पाती कि सुनील भावुक है। उससे बोल पाता नहीं, इसी से कहानियों का सहारा पकड़ा है। सुनील उसे सुझाता—'मैं अपने जीवन में जा चुका हूँ। अब कुछ करने का जी करता नहीं है। और यह कहानी भी तो तुम्हें समाप्त करना है। तुम्हारी अनबूझों के सामने मैं झुक जाता हूँ। बस, वैसे कभी-कभी लगता है, जैसे मैं तुम्हारे निकट अपना ममत्व छोड़ जाता हूँ; जैसे तुम में अटक अपना टूटना ही भर मैंने जाना है।

पर वह कुछ कहती न थी। चुपचाप हँसी-हँसी में अपने में आ, मेज़ पर कुछ उसके काग़ज़ सँवारा करती। फिर उन्हें साफ़ करने में लग जाती। भावों के प्रवाह में वह भी बही थी। उसकी मनचली वेदनाओं को उसने भी समझा था।

और वह कुछ पिघरा हुआ सुनील स्टोव पर केटली रख चाय बनाता। फिर उसे

प्याले में उँडेल अचला के सामने रख धीरे से कहता "लो, अचला! यह चाय मुझे बनाना आती नहीं है, इसीलिये देने में झिझकता हूँ। तुम से कुछ कह-सुन लेता हूँ। फिर भी बिना दिये भी सरता नहीं है। और तुमको यह क्यों अच्छी लगेगी?" और अचला हँस कर कहती—"चाय का सहारा खूब पकड़ा है। और क्या तुमको यह नहीं लगा कि अचला का मन एक डोर में बँधा है। वह डोर अपने से हट कुछ क्षण के लिये कहानी-लेखकों का मन छू देती है। कभी-कभी तुम्हें कहना हुआ चाहा है, पर कह सकी नहीं। और तुम्हारी चाय भी क्या खूब है! बिल्ली मैंने पाली नहीं। कुत्ते से भी मुझे अधिक प्रेम नहीं है। मैं हूँ अकेली! तुम्हें देख कर कुछ सोच भर लेती हूँ। उस दिन भाभी से कह दिया था—'यदि तुम्हें सुनील की चाय मिल जाय तो...!'"

वह प्याली उसके ओठों से लगा देता। और वह बेबोल, कुछ भरी-धरी नारी कुछ बोलती नहीं। केवल ज़रा-सा हँस, मुँह बिचका कर उसे पी जाती, फिर वही कहानियों पर आँखें टिक जातीं।

और गाड़ी आगे बढ़ रही थी। किसी मन की गहराई से तो उसने उससे सम्बन्ध जोड़ा है नहीं। एक वैवाहिक कार्य में वह स्वयं चूक चुकी है। वह अपने में लगी उससे हटी थी, कि भाग्य के पलड़े में आ उसे उसको स्वामी मान लेना पड़ा। अपने से एक पृथक् रूप में वह उसे कहाँ देख सकी थी। उसने सुना था कि उसका स्वामी काफ़ी गुणों से लदा है। उसकी दुनिया में रह, देख, कह-सुन कर क्या वह उसे निभा न सकेगी? एम० ए० में फर्स्ट आये हैं; और वह क्या उसके लिये कम गौरव की बात है? फिर शादी के बाद वह उसे लिवा गये थे।

गाड़ी एक स्टेशन पर रुकी।

सामने से उसका स्वामी हँसता हुआ, झूम कर चला गया। सुन्दर वह है। काफ़ी 'सिविलाइज्ड' भी। फिर भी वह अपने को कैसे समझावे। वह उससे छू कर क्या कहे-सुने। अपनी सारी बातों को समझाने के लिये वह जाय कहाँ! और एक सुनील? एक रोमांस बना उसके पास सेंता भर रहा है। वह उसे खूब पढ़ चुकी है। उसका स्वामी—और उस-जैसा खिला-खिला युवक! सारी कहानियों में उसकी सँवारी हुई पहिचान भरी है। उसने कहा था—'चलो, आज उपन्यास समाप्त हो चुका है। तुम्हें उसका अन्तिम अध्याय दिखाने आया हूँ।' और भारी-भारी आँखों की सफेद पुतलियों में एक अपनत्व की छाया ला कर वह उसे ताक देती।

लेकिन यह जाय भी तो कैसे उसके साथ?

रात ही को तो उसे एक अनजाने युवक को स्वामी मान लेना है। अपनी उलझन

में वह खुद ही बँधी है। और क्या यह लाल साड़ी देख कर भी वह नहीं समझ सका है? पैरों में महावर भी तो उसने लगाया है, और हाथों में भी! फिर भी तो वह अनजान है। और मेंहदी के दाग़...!

हाय वह जाय कैसे? मानो वह उसे सुझाना चाहती हो कि ओ सुनील! तुम हो बड़े भावुक कहानीकार भी! फिर भी मुझे समझ सके? मुझे खोलने की ज़रूरत ही न समझी। और मैं कैसे कहूँ, मैं भी नारी हूँ, जो क्या कहीं भी कुछ कहती है?

पर वह न माना था।

उसने उसे समझाया था, उसके पास अपनी टिकी-थकी स्मृतियाँ सुझाना भर चाहता था। वह आज उसे क्या कह दे? उसकी अपनी वेदना में वह उसे क्या समझा दे? वह कहानी-लेखक है। उसने बहुत-सी 'कैटास्ट्रॉफी' लिखी है। और और मन के पास ही उसने तभी किसी को तौला भर था। किन्तु अवज्ञा ठीक तो है। उसने उसे जाना है। रूठी हुई आँखों से उसे हँसाया है। पर जैसे अब वह सारा टूटना-टूटना भर चाहता हो। यही होनहार है।

कमरे की शीशे लगी हुई बड़ी-बड़ी आलमारियों के अन्दर जैसे उसकी चील पढ़ती हो...! वह कमरे में खड़ी थी। सामने मेज़ पर रात को देर तक लिखने के काग़ज़ पड़े थे...जैसे वह सोया नहीं...कि वह बोली—"मुझे कुछ लगता नहीं है। तुम भले हो। और इतना क्यों लिखते हो...स्वास्थ्य कहीं खराब...!' फिर उसने उपन्यासों के काग़ज़ों को सीरियल से लगाया, सुनील के उपन्यास का वह मैनुस्क्रिप्ट था। वह कुछ बोला था नहीं। केवल सामने मेज़ पर बैठा कुछ सोचता भर रहा था।...कि गाड़ी एक जंकशन पर खड़ी थी।

...सुशील में कितना आकर्षण है। वह 'थ्रिलिंग' की दीवार बना उसके मन के आँगन में खड़ा हो गया।

और स्वामी सामने की सीट पर बैठा था। जीवन और समाज की परतों के बीच में उसने उसे सामने ही तो पाया था। पर उसे कहाँ कह पाई थी कि सुशील मैं तुम से लग सकूँगी नहीं। भावुक तुम हो। अपनी कल्पना से मेरा निर्माण कर लेते हो। मुझे मन में पास जान, अपने में सोच, तनिक हँस, मुस्करा कर कह लेते होगे कि मैं पुरुष हूँ—तुम्हारी छाया में खो जाना भर चाहता हूँ! पर तुम क्या जानो कि समाज से सट-मिल कर तुम्हें धर सकूँगी नहीं। और तुम व्यर्थ में मुझे कहानियों में ढाला क्यों करते हो?

उसका स्वामी ज़रा पास आ गया। निकट की खिड़की पकड़, सकुचा, ज़रा-सा खिसक कर हँस, जैसे वह कहना भर चाहता हो कि मैं तुम्हारा स्वामी हूँ। स्वामी

कहलाने का अधिकार भी रखता हूँ। पर तुम बोलती क्यों नहीं। तुम्हारी आँखों की चुप्पी के आगे मैं चुप रहना चाहता नहीं। और तुम क्या ऐसी ही बैठी रहोगी... ऐसी ही...?

वह बोला—"लेट ही जाइये! आप थक गई होंगी। अभी स्टेशन काफी दूर है।"...उसका अनुरोध! स्वामी वह है। प्यार भी करे शायद! उसे मनावे भी! वह तर्क नहीं भी कर सकता था। वह लाज में उसे बाँधे कैसे? अपने में घुली-डूबी नारी थी वह। और वह क्या कहे? अचला चुप, मुसकरा कर; झेंप कर, सकुचा कर ज़रा खिसक भर गई, जैसे यही उसका नियम था। स्वामी 'इलस्ट्रेटेड वीकली' की पहेली हल कर रहा था। भरे गोरे चेहरे पर सुनहरी कमानी का चश्मा...और वह क्या सुनील से भी अधिक अटक, पास आ गया था। फिर भी सुनील को वह भूले कैसे? उसने उसे खूब ही तो पढ़ा है। बहुत-सा समझावा ले कर यह उसे निकट पा सकी थी। कई बार की चुटकी में वह उसे भाँप गई थी।

उसका सब से निराला रूप सामने था।

"तुमने मुझे इतना सहज, भावुक और कलाकार क्यों बना दिया—अचला!"

बहुत दिनों तक वह इसका उत्तर न दे गोल-मोल रही थी।

फिर वह एक बार घर गई थी। सुनील को जो मालूम हुआ, तो उसने एक पत्र के साथ कुछ पुस्तक भेज दीं। पत्र इस प्रकार था—

'अचला!

× × तुम्हें नहीं देख सका।

और तुम तो अब बिरानी हो। मैं तुम्हें 'तुम' कहने का अधिकार रखता कहाँ? फिर भी तुम्हें समझा है। विश्व में इतना ऊँचा उठ गया हूँ...कि अपने को भी भूला जा रहा हूँ। तुम्हारी भोली छाया को पकड़, मैं जो कुछ हो सका हूँ, उसी की पाँच प्रतियाँ भेज रहा हूँ। उपन्यास को ठीक से पढ़ लेना, अच्छा!

और एक पत्र अपने स्वामी को भी। फिर कभी मिलूँगा...क्षमा करना...!

तुम्हारा,

—सुनील।'

कि विचार टूट गये।

सुनील ज़रा हँस, सकुचा कर पीछे हट गया। कुली बिस्तर का बंडल उठा कर स्टेशन पर रख रहा था। यहीं उसे उतरना था। मन के पीछे सुनील था. और स्वामी...! उसने कहा था—'मन में मुझे आश्रय देना, चाहे बाहर तुम मुझे मत रखना, मैं रहना चाहती भी नहीं हूँ।' पर सुनील को वह भूले कैसे? और उसका स्वामी? सुनील से कम जाना भर!

स्टोव जला। चाय बनी। और तभी उसकी धुँधली रोशनी में उसके स्वामी ने बुक-स्टैन्ड में रखा हुआ उपन्यास देखा। बड़ी रात बीते जब वह सो गई, तब उसका स्वामी चुपके से उपन्यास उठा, ऊपर के कमरे में आ लेट गया।

और उपन्यास के अन्दर समर्पण था। उसके बाद एक भावुक चित्र—बिखरे-बिखरे बालों में एक पहिचानी हुई युवती! चित्र कुछ कह-सुन चुका था। लगा, उसने उसे कहीं देखा भर है, जैसे वह बोलना भर चाहती हो कि तुम व्यर्थ ही में ब्याह कर घर लाये...मैं तो सुनील की हूँ। उसके नेत्रों के निकट और जी के पास हूँ, जैसे वह अपने में स्वामित्व की रेखायें भी छोड़ना जानती हो। बहुत आगे वह जब पहुँच गई थी।

दूसरे सवेरे उसका स्वामी उससे कुछ बोला नहीं। केवल उपन्यास पढ़ने में तल्लीन रहा। अचला ने कई बार अनुभव किया कि उपन्यास पढ़ते-पढ़ते उसका स्वामी कभी आँसू पोंछ, कुछ हँस कर सोचने लगता था।

और शाम को उसका स्वामी बड़ी देर तक घर आया नहीं। अचला मुँदी-ढँकी भरी-भरी बैठी भर रही कि उसे याद आया कि उसका स्वामी गई रात को बड़ी देर तक पत्र लिख रहा था। खोला, तो उसने पाया—

'सुनील की तुम!

'तुम्हें समझ सका नहीं। मैं भी पुरुष था। किसी को निकट देख कर पढ़ना भर चाहता था। फिर भी अलग-अलग हटा रहा। तुम एक कहानी-लेखक की आँखों में बैठी हो, हँसी हो। भावुकता के रंग में रंगी हो। तुम्हारा निर्माण कल्पना से हुआ है। और मैं कैसे तुम्हें समझ सकूँगा? तुम ठहरीं नारी। तुम्हारा चित्र अभी उपन्यास में देखा, साथ ही सूझा समर्पण भी। सोचा—'यदि मैं तुम्हें मन से लगा सका होता! पर मैं तुम्हें धोखा दूँगा नहीं। तुम्हारे योग्य भी मैं हूँ नहीं।

मुझे क्षमा करना!

'तुम्हारा भार ले कर मैं चल सकूँगा कहाँ, इसलिये अलग-अलग जा रहा हूँ।

'तुम्हारा जी चाहे तो सुनील के पास चली जाना। मुझे भूल जाना, अच्छा!

'—तुम्हारा स्वामी।'

फिर कभी उसका स्वामी आया या नहीं, कौन जाने? परसों सिनेमा गया था। वहीं सुनील मिला था। मिलते ही उसने अपने उपन्यास की एक प्रति दी—और यह असह्य भार उसी का ही तो एक अध्याय है न!

नीलम

नीलम उठी ; चाहा कि जो पीड़ा उसके मन में एक बात ले छिपी है, उसे वह निकाले। निकाले और कहे कि कुमुद, क्या सचमुच विवाह का बन्धन नारी को सीमित कर देता है ? और फिर दूर-दूर कल्पना का जो खाका मैंने खींचा है, वह क्या सच ही झूठा है ? पर बोली नहीं। चुपचाप मन मार रह गई; चुपचाप लज्जा में गड़ी-गड़ी भर !

यह सारी बात कुमुद को सोचने में बाँध नहीं पाती है। नीलम से हट कुमुद अपने को अधूरा पाता है। उस अधूरेपन में जो एक गहराई है, उसे वह कहाँ रखे ? कुछ दिनों की नीलम आँखों-आँखों में था जैसे कह जाती हो कि कुमुद, तुम्हें ज़रा कम समझ पाती हूँ, इसी से दूर-दूर अपना रास्ता बनाये रही हूँ। फिर भी...!

आगे विचार चलते नहीं।

नीलम आ जाती, कहती कि मैं नारी हूँ, जिम्मेदारी का एक बड़ा हिस्सा सँभाला है। उसी में किसी को समझा-बुझा, हँसाया करती हूँ। बात टूटी; कुमुद चौंका, तो नीलम बोली—"स्वागत पर कुछ लिखा था। ज़रा देख कर ठीक कर दीजियेगा।" और उत्तर मिला—"आजकल आप स्वागत अधिक कर रही हैं !"

नीलम कट गई।

मुँह ढाँप, हँसी को रोक, लाज से गड़ गई। सोचा, यह जो सामने कुमुद नाम का पुरुष है, वह इतनी बात क्यों कह देता है ? और वह क्या इसे नहीं समझता है कि नीलम अजिया की ओट ले उसी के निकट की हो रही है ?

बात कहने को थी। नीलम को खूब लगी।

और वह सोचे क्या ? सच ही तो कुमुद कह रहा है। कुछ दिनों में जब वह गृहस्थी से छूट, घर से विदा हो, स्वामी के निकट जायगी, तब क्या कुमुद की बात ऐसी ही रहेगी ?

पढ़ी-लिखी नीलम के बारे में जो भ्रम का रूप कुमुद के मन में बन गया है, उसे वह मिटा नहीं पाता है। हाँ, कभी उसने सोचा था कि नीलम उसे भली-भली लगती है। जो कमी की ज़रूरत उसे अखरती आ रही है, वह नीलम में पूरी उतरी है। ज़रा हँसी से, भरे गोल-गोल मुँह में उसे सीमित क्यों रखे ? आते ही एक

उल्लास बिखेर नीलम को वह क्या माने ? जार्जेट की रंगीन साड़ियों का सहारा ले, सामने से घूम, अखबारों का पुलिन्दा हिला, कहती, कल आऊँगी। अच्छा कल ? वह सुन्दर भागती हुई नीलम क्या कल्पना में जीवन नहीं दे जाती ? यह सब कुमुद को लगा है।

नीलम अपने में ज़रा चूक जाती है। जो स्वामी का बर्ताव उसने घटाया है, उससे उसका जी सुखी नहीं है। उसकी इच्छा है कि स्वामी से भी आगे 'कुछ' हो। यह 'कुछ' की बात वह सोचती है। इसी भावना से बनी हुई नीलम आज कुमुद को बहुत-बहुत उलझा देती है।

उस बार ऐसे ही कुमुद ने उसे देखा था। तब वह अपने किसी निकट सम्बन्धी के यहाँ आई थी। तभी सब कुछ समझा-बुझा, मन के पास आ जम चली थी।

बातें उलझती ही चली गई थीं।

और जब सुलझीं, तब पाया कि वह नीलम नाम की सुन्दर, भरी-भरी नारी में आ अटका है। वैसे ही कभी वह उसके-भाई को देखने घर गया था। उसका भाई है। तनिक बीमारी ले लगा, और वह बीमारी की बात नीलम के मन में वेदना भर गई है। खूब छटपटा वह उसे निकाले कैसे ? कुछ बैठा, तो सामने नीलम आई। भैया की पीड़ा से ऊब, वह तिलमिला कर बोली— "कुछ खाइयेगा ?"

उसका भाई कुछ बोला नहीं, और वह समझदार नीलम जैसे सब कुछ समझ गई हो। गई, फिर एक तश्तरी में कुछ जमा, बाहर का आँगन पार कर ऊपर की सीढ़ी पर आई। तभी कुमुद के मन में अनजाने बात उठी थी कि यह नीलम क्या है, जो वह उसे समझ नहीं पाता है ?

फिर उसके संशोधन की याद आई थी, और अब उसकी कहानियों को ठीक करते समय, जैसे नीलम अपने से बाहर-बाहर हो लकीरों में आ, हँस, काँप, कह जाती हो कि हाँ कुमुद, स्वागत-गीत ठीक कर देना। और देखो, कहीं स्वयं को ठीक न कर बैठना।

उसके छोटे-छोटे बेगार-भरे शब्दों से लगी-लगी लाइनें...और उनका चित्रण ! नीलम कुछ सुझा जाती। बहुत पुरानी बात नहीं, बिलकुल नई, अपनी ही बोझे से लदी-लदी भर, जैसे उनके मध्य की रेखाओं में उतर, ज़रा पास आ, सिर्फ हँस जाना चाहती हो। और कुमुद को लगता, उसमें एक जागरण फिर से स्थान बना रहा है। वह उसकी बात सोचे कैसे ?

नारी की बात— नीलम की बात !

सन्ध्या को नीलम आई थी। कुमुद को पा अपने को भूल गई। फिर सँभल, गम्भीरता में आ मज़ाक़ में बोली—"किसी की शादी हो, और किसी को मिठाई भी न मिले! भाई वाह!"

और कुमुद चिल्लाया—"नीलम!"

"हाँ, कमला के साथ! मुझ से भी अधिक सुन्दर रही होगी! हैं, न...!"

"नीलम!"

नीलम चुप थी।

आज शादी की बात एक दुःख ले कर जो उसके चारों ओर उड़ रही थी, वह कमला की ही इच्छा रही होगी। और उससे पृथक् हो नीलम ने अपने को स्वामी में बाँट सूना पाया। दबा-दबा कर बैठी रही; चुपचाप कुछ सोचती-सोचती-सी।

और कुमुद बोला भी—"नीलम, भविष्य का मखौल उड़ा, ज़रा स्वप्नों से लग हम क्या करते हैं? प्यार, शादी और सब कुछ तो...!"

नीलम ने बात काट कर कहा था—"अपना संसार बसा लेने के बाद दुःख होता है, कुमुद! नारी चाहती है कि उसका दुःख सीमित न रहे। वह आगे बढ़े ज़रूर! चाहे वह दुःख अधूरा ही हो, पर रुके नहीं। ज़िन्दगी में रुकना पाप है और चलते रहना ही पुण्य।"

यह कमला नाम की नारी नीलम के सहारे कुछ खिली-खिली हो उठी थी। ऐसे ही बातों-बातों में कभी उसका नाम भी आ जुड़ा था, और तभी सुन्दरता की परिभाषा में वह अपने को नीलम से हारी मान चुकी थी।

कुछ दिनों के बाद नीलम बहुत गम्भीर मज़ाक़ करने लगी थी। अपने उत्तर-दायित्व से हट; वह मज़ाक़ कुछ बुरा थोड़ेही लगता था। हाँ, नीलम का एक भरा-भरा रूप उससे बाहर ही रह जाता था। हँसी को रोक कर नीलम बोली थी—"नाम भी तो मिलते ही हैं, पढ़ी-लिखी भी। आप कुमुद, और वह कमला...। 'क', 'क' क वर्ग...।"

आगे नीलम हँस पड़ी।

हँसती ही रही, जैसे हँसती रहेगी।

कुमुद नीलम के सामने गम्भीरता में थक जाता है। और वह चाहता है कि उसकी वह थकान उसे दुःख न दे। चाहे मज़ाक़ वह भले ही न करे। और पढ़ी-लिखी नीलम का मज़ाक़ घर कर गया। उसने सोचा—यह जो पास बैठी नीलम में समाई नारी है, वह इतनी गम्भीर क्यों है; ज़रा हँसी-हँसी में आ दार्शनिकता से लग, म भर रह जायगी। नीलम...कमला...!

और ?

नीलम ! नीलम ! नीलम !

जैसे नीलम में नीलम है ।

फिर कभी माँ ने उसके स्वामी के पास जाने की बात सुनाई थी ।

स्वामी ?

कुमुद खूब वेदना से भर गया था ।

नीलम का स्वामी भी है ।...ज़रा कुमुद से सुन्दर, स्वस्थ और अधिक पढ़ा-लिखा भी। फिर भी कुमुद क्या कहे ? कैसे सुनाये कि वह स्वामी उसे भला नहीं लगता है। नीलम को अपने में छिपा, क्या वह भला रह भी सकेगा। और तभी नीलम झिलमिल-झिलमिल साड़ी हिलाते-हिलाते सामने आ कर हँस, कहती—"नहीं, नहीं, नहीं !"

नीलम के मन की बात...उसकी हँसी...क्या वह एक मखौल समझे ? और स्वामी ? दिमाग़ी नीलम की दौड़। जैसे चुप हो धीरे-धीरे कहना चाहती हो कि यदि कुछ पहले मिलते, तो...तो...!

फिर नीलम सन्ध्या को आई, तो कुमुद कुछ बोला नहीं। चुपचाप किताब पढ़, उसी में खो, चुपचाप लेट रहा। आते ही नीलम कुमुद को देख खिलखिला पड़ी। और कुमुद लेट रहा, यह सोचते-सोचते कि इस टुकड़ा-सी ज़िन्दगी में वह नीलम को कहाँ रखे ? नीलम है नारी, सुन्दर और पढ़ी-लिखी भी। और वह आई क्यों जब उसे टूटना ही था ? विचार हटा। नीलम ने कहा था—"बड़ी दूर से आ रही हूँ। सच ! धूप में। खूब थक गई हूँ...खूब !"

तो कुमुद उसकी पीड़ा, वेदना से तिलमिला कर चुप न रह सका। धीरे से बोला—"दुःख से ज़िन्दगी छोटी होती है। आपके कष्ट से ज़िन्दगी का एक साल और छोटा हो जायगा।"

सुन कर नीलम ने चाहा कि कुछ कहे। फिर बोली—"आप भी......"

बात कट गई।

और माँ फिर बातों में उलझी थी। कुमुद को लगा, ज़िन्दगी एक स्वप्न है। इसी स्वप्न में था, कभी सच ही तो उसने विद्या को भी परखा था। वह भी ऐसी ही थी। भली-भली पूरी, समूची विद्या ! फिर शादी की ओट ले, वह भागी। उसका स्वामी और नीलम भी तो स्वामी रखती है।

स्वामी...स्वामी, स्वामी !

और तभी माँ ने फिर कहा—"तुम तो स्वामी के पास जाने वाली हो !"

सुन कर नीलम खूब हँसी।

और कुमुद को वह स्वामी भाया नहीं। यह दीवार वह कैसे हटाये? विद्या भी तो उसने ऐसे ही खोई है...और अब नीलम—स्वप्न-सी नीलम...

नीलम ने पुकारा—"कुमुद!"

विचार उलझे—नीलम भी जायगी।

उसे वह रोक कैसे सकेगा?

स्वामी का दरजा किसे छोड़ता है? नीलम भी उसी में गई...और विवाह...!

अब नीलम उठ कर पास आई। उसे देख कुमुद तकिये से मुँह छिपा चुपचाप लेटा ही रहा। और अब नीलम ने जाना कि कुमुद रो रहा है।

कुमुद की वेदना!

चौंक कर नीलम ने बिलकुल पास आ, सिर पर हाथ फेरा। और कुमुद को लगा, एक हाथ की पतली-पतली अँगुलियाँ उसके मस्तक पर गर्म-गर्म थमी हैं। जैसे वे अब हटना नहीं चाहती हैं, थमी ही रहेंगी।

मन को ज़रा समझा कर वह बोली—"कुमुद, किसकी याद आ रही है?"

याद...? कुमुद खूब फूट-फूट कर रोया था। जैसे अनजाने ही कहना चाहा हो कि नीलम यह तुम कहती हो, बोलो...! और क्या कोई बताने की बात बाकी रही है?

उसकी ओट ले, माँ ने सुनाया कि कुमुद को कोई बात लग गई है।

नीलम चौंकी।

आगे माँ ने बात जोड़ी थी, तुम्हारे स्वामी के घर जाने की बात से ही कुमुद को पीड़ा हुई है।

और कुमुद ने सोचा था कि यह माँ इतना सच क्यों कहे जा रही है? जब वह सच है भी, और नहीं भी।

नीलम क्या करे? लज्जा में गड़, वेदना से भीग, चुप रह गई। फिर सब समझ कर बोली—"छिः, पागल हो! मैं कहीं न जाऊँगी...सच, कहीं न जाऊँगी... स्त्रियों की भाँति रोते हो...!"

उसे समझ ज़रा गम्भीर हो, कुमुद बोला था—"नीलम, रोना ही ज़िन्दगी का सुख है। हम रोते हैं, यह जानने के लिये कि सुख क्या है। और उसे जान कर भुलाते नहीं। तुम नीलम हो, स्वामी रखती हो और स्वामी का भारतीय अधिकार तुम्हें रोक नहीं सकता।"

नीलम कुछ बोली नहीं। हाँ, उसकी आँखें भर आईं।

जब माँ चली गई, तो कुमुद फिर बोला—"नीलम, तुम लिखती रहना। स्वागत-गीत और कहानियाँ भी। और पाना कि तुम्हारे लिखने में मैं ही हूँ।"

नीलम चुप रही।

फिर बाहर की भली-भली नमस्ते में उसे दूर कर कुमुद ज़रा हलका हुआ, तो माँ ने सुनाया था कि तुम्हारे चले जाने के बाद नीलम बड़ी बेचैन रही—पूछती थी कि कुमुद क्यों रोया ? और मन से उलझ स्वामी से छूट मेरी धोती में छिप नीलम भी बड़ी देर तक रोई थी।

नीलम भी रोई......!

कुमुद चौंका। नीलम में अपनाव आया। सोचा, सच ही क्या नीलम नारी है ! नीलम...नारी...!

फिर एक सन्ध्या नीलम बाहर का दरवाज़ा पार कर अन्दर पहुँची और कुमुद उसे पा, अपने से बाहर आ, भाँप गया था कि नीलम ही है। जो मन में छिपी-छिपी नारी का एक भराव है, उसे नीलम से मिलता-जुलता पा, वह खिलखिला पड़ा। नीलम बैठी, तो कुमुद बोला—"अपनी चीज़ देखी है ?"

सुन कर नीलम मुँह छिपा कर हँसी थी। और कुमुद ने 'माधुरी' की प्रति सामने की। नीलम पढ़ने में खो गई। और जब उठी, तो पाया कि वह कहानी उसे अच्छी नहीं लगी।

कहानी ? हाँ, वह भी तो एक कहानी ही है !

नीलम कुछ सचेत गई। चुपचाप ही चुपचाप प्रति बन्द कर बैठ गई।

कुमुद ने पूछा—"कैसी रही ?"

नीलम ने चाहा कि वह कहे, आप ठीक नहीं लिखते हैं, और मिलन-वियोग की छाया के नीचे हम एक-दूसरे को क्या पहिचान न सकेंगे ? मन मार बोली—"आप ने यह सब क्यों लिखा ?"

आगे नीलम भावों में खो गई।

कुमुद ने बात पकड़ी। बोला—"नीलम ! यही तो मैं भी नहीं जानता हूँ।"

उस दूर की नीलम में वह बात घर कर गई। नीलम की बातें कुमुद को अब भली लगती हैं। मन से उलझ वह उन्हीं का निर्माण कर चुप रहता है।

और एक सन्ध्या को कुमुद ने जाना कि नीलम स्वामी के पास जा रही है। उस दिन वह उसके विषय में समझाता रहा। और फिर कमरे में घुसा, काग़ज़ पर पेन्सिल की रेखाओं से रात को मनबहलाव करता रहा। जैसे वे रेखायें उसके मन में एक अभाव की पूर्ति कर खिंचीं-खिंचीं, गहरी-गहरी हो उठी हों। उन्हें

रबड़ से मिटा-मिटा वह सुचित्त नहीं हो पाता। और अब वे रेखायें एक नारी का रूप ले रही थीं। देख, कुमुद ने जाना कि नीलम ही है। चुपचाप काग़ज़ पर खड़ी है और कुछ बोलती नहीं है। जैसे अब वह मूक ही रहेगी। स्वामी से लग कर उस मूकता की तह में क्या वह वाचाल हो सकेगी?

तभी जैसे चित्र में नीलम आई।

और कुमुद ने धीरे से पेन्सिल का 'शेड' दे काग़ज़ पर उसे बाँधा।

बड़ी सुबह नीलम को जाना था। कुमुद रात भर जागता चित्र बनाता रहा। जैसे दूर पर वह नीलम को देख चौंका।

"नीलम, नीलम!"

पर नीलम में उसका भ्रम था।

तभी नीलम का ताँगा आया। पीछे ज़रा परदे में नीलम...और आगे उसका स्वामी...। कुमुद आगे बढ़ा और नीलम उसे देख हँसी नहीं। श्रद्धा से भर, स्नेह से लग, वह बैठी ही रहा। तभी कुमुद तनिक पास पहुँच, सधा-सधा काग़ज़ का एक बण्डल भीतर फेंक कहता-कहता एक ओर चला गया कि 'नीलम, तुम आना। आना ज़रूर। यह तुम्हारी चीज़ है।...मैं हारा, तुम जीतीं—जीतीं।' आगे कुमुद फूट-फूट कर रो दिया। रोता ही रहा।

नीलम ने बण्डल उठा कर देखा—एक बिखरी-बिखरी नारी ज़रा खिली-खिली बैठी थी। और उसे अपनी-सी पा, वह रो उठी। आँखें स्वामी पर रुकीं, जैसे पूछना चाहती हों कि तुम हो स्वामी? बोलो, तुम हो? और कुमुद को वह क्या करे?

नीलम रो रही थी!

ताँगा चल रहा था।

उसका स्वामी कुछ न समझ सका।

नीला डोरा

उससे जो मिला, तो वह सकुचा, लजा, झुक कर आँखों से टिक गई। अपने से बाहर वह नहीं थी। दूर-दूर जीवन के किनारे से टूट, सिकुड़, सट कर पास आ गई; पर बोली नहीं कुछ। चुपचाप रही—केवल हँसती-सी! उसने भी सब कुछ सोचा होगा, शायद खुल भी जाना चाहा हो। सूनापन झेला था, मन में किसी को समझा-बुझा कर मनाया था। उस रचना को वह पाती कहाँ थी? अपने में खोकर वह उसे दबाये थी। तीन साल से उसकी माँ उसे मेरे जीवन में घुला देने की सोच रही थी। कुटुम्ब के सदस्यों ने भी बातों-बातों में मुझे ही चुना था।

और मैं भी तो एक सन्ध्या को उसके यहाँ पहुँच गया था। तब वह ज़रा पास आ, आगे खिसक कर मुझे पढ़ लेना भर चाहती थी। अपने में चूकी थी वह। एक के भीतर सीमित उसके नारी-सुलभ आकर्षण को समझा था। वह कुछ निकट आती गई और फिर कई बुरे-बुरे साल टल गये, ठहर सका नहीं। उसे उत्सुक बना, रुला-धुला कर चला आया; पर वह जैसे पास ही रही। मन में बहुत निकट थी; जैसे वह बोलना भर चाहती हो कि मैं तो नारी हूँ। तुमसे छिपी नहीं रहना चाहती, और तुम क्या सदा दूर ही रहोगे? जी चाहता है, तुम्हारी छाया को पकड़ कर बन्द कर लूँ, पर कह पाती नहीं कि ओ जीजा, तुम जीजी ही में यों छिपे रहो? अपने पास तुम्हारा मन अटका देख सब कुछ पा लेती हूँ। तुम्हें देख कर जी भरता नहीं। और जीजा सच ही तो तुम जीजा से भी निकट की चीज़ हो...मैं तुम्हें जीजा ही में क्यों सीमित रखूँ। अपने में क्यों न खोल देख भर लूँ।

उस बार जो वापस आया, तो भाभी ने बताया कि कमला बड़ी भावुक है। चार-पाँच महीने के बाद भी उसमें एक अपना अपनत्व है! वह अपने में छिपी-धरी नारी कमला को अपने से बाहर नहीं पाती रही थी। बातों का जवाब नपा-तुला देती। उसकी हार में भी एक जीत रहती। बचपन की सरलता के साथ-साथ गहरी गुत्थियों तक उसे पढ़ा था। भाभी की बहिन में अपने को निकट पाता रहा। तीन साल की आवश्यकताओं को उसका भरा-भरा मुख देख कर सिरजा था। बलाड्ज़ से साड़ियों तक उसे उलझा पाया था, और अब वह कमला के रूप में मानो बिरानी

न रही हो; हँस-खेल, छिटक-रूठ कर पास आ, मानो गम्भीर, भावुक, बेबोल हो, चुप हो जाती हो। फिर भी जैसे वह दूर हटना नहीं जानती है।

भाभी ने मुझे स्वयं भाँपा है। दद्दा की आड़ में पुरुषों की भावुकता को समझा है। वह अपनी भूल में चूक जाती है। पर कह कुछ नहीं पाती। कमला के बारे में कभी-कभी वह कुछ कह लेती है। अपने से दूर होना भर उसने सीखा है; पाँच साल की भरी-भरी बातों में वह खूब दुबक गई है। कमला की छाया को छूना चाह कर भी वह अलग-अलग हट ज़रा सँभल जाना चाहती है, पर कमला के स्नेह को वह अटका नहीं पाती है। ऊपरी मन से उसे दबा धीरे से हँस, पास आ, उसने भी कभी कहा था कि कमला इस घर में नहीं आ सकती है। फिर कभी बताया था कि हम और दद्दा सगे भाई हैं, और भाभी और कमला......? पर उसे अपने से दूर कर सका नहीं! कमला को अपने पास से—पास देखने की चाहना कर के भी उससे कह न पाता था। उसी दिन ज़रा यूँ हीं जी चाहा कि कमला को कुछ लिख दूँ। बात पकड़ ली और लिखा—

कमला पर कलम चली नहीं। विचार मन में ही रह गये। सोचा, वह भी नारी है किसी को ज़रा-सा देख हँस भर देना चाहती होगी, और मैं भी तो पुरुष हूँ। दोनों प्यासे हैं। लगा भाभी आ रही है। पीछे देखा तो सच, भाभी कब की खड़ी पत्र देख रही थी। मैं कुछ झेंप गया। पत्र फाड़ कर फेंक दिया। पर भाभी जैसे सब-कुछ जान कर दिल में उतर चुकी थी, बोली—"तुम्हारा यह खिंचाव ठीक नहीं है। कमला को बदनाम करने की कोशिश क्यों कर रहे हो? अब की बार जब मैं कानपूर गई थी, तब पिताजी कह रहे थे कि राजन को कमला के पास पत्र लिखने को मना कर दो, यह ठीक नहीं है।"

मैं कुछ बोला नहीं। केवल सोचा, चाहे भले ही भाभी की आँखों में वह छूट, हट कर पृथक् हो जाये, पर फिर भी उससे दूर रह न सकूँगा। नारी की पिछली भावनाओं के आगे वह घूमती जायगी, पर टूटेगी नहीं। और चार साल की स्मृतियों में वह क्या अपनी खोई हुई सूरत आँक न जायगी। कमला को पढ़ा है, उसे समझा है। वह समझ अधूरी समझ से मिल कर उसे अलग न कर सकेगी। और अभी वह भी नारी है, अपनी कमला के लिये भी उसे चिन्ता नहीं है, मैट्रिक की परीक्षा में जब वह फर्स्ट डिवीज़न में पास हुई थी, तब भाभी ने उसे रुला, मना कर समझाया था कि राजन से कभी-कभी पूछ लिया कर, वह भी तो अपने हैं और अब...!

उस दिन सिनेमा गया, तो देखा—कमला अन्दर एक युवक के साथ, पास ही बैठी घुल-घुल कर बातें कर रही थी। दिल कुछ टूट गया, बोलना चाहने पर भी बोल न

सका। लगा जैसे अब वह कमला है नहीं। उसको पास-पास हँसी में अपने को खोने की इच्छा रखते हुये भी मैं उससे सट न सका। केवल चुप ही एक ओर बैठा रहा कि वह युवक बोला—"कमला, मैंने बी० ए० में हिन्दी ले रखी है। इसलिये समय ज़रा कम मिल पाता है। जी भर आना चाहता हूँ, पर 'स्टडी' में अटक कर रह जाता हूँ। और तुम तो खाली रहती हो। तुम्हीं आ जाया करो न?" और कमला हँस कर बोली—"आप तो बहुत व्यस्त रहते हैं, और मैं..."

कि आगे कुछ सुन न सका। उस दिन न जाने क्यों, सिनेमा में मन न लगा जी उचाट हो रहा था। 'स्क्रीन' की ओर देखते रह कर भी कुछ समझ पाया नहीं।

फिर कमला कुछ बोली नहीं। मुझसे जीती हुई नारी कमला को प्रबोध पढ़ा रहा था। घर आ कर सुना कि उसी प्रबोध के साथ उसका जीवन बँधने जा रहा है। और शान्ति सोलह साल की सरस बालिका बढ़ती हुई हँसी में अपने को पाया था। वह मुझमें घुली शान्ति, हृदय के पास आ मानो कह चुकी थी, कि ओ चाचा, मैं छोटी-सी हूँ, ज़्यादा समझ नहीं पाती...फिर भी तुम्हें पाया है। तुम जो कहोगे उससे दूर न रहूँगी। रूठ, हँस खेल, और खुल कर वह मुझे खो चुकी है, वह कमला को खूब जानती है। उसकी भरी-भरी सकुचाई हुई आदतों से वह खूब हिलक गई है। भाभी के साथ जब उस बार वह पहले-पहल कमला के घर गई थी, तभी उसने चुपके से कहा था—"चाचा! आज मैंने मौसी को देख लिया है। कल उसे यहाँ बुला लाऊँगी, तब आप भी देख लेना।"

उसके बाद वह प्रायः तीसरे-चौथे दिन कमला के घर जाती।

खाने को बैठा, तो शान्ति ने सुनाया कि आजकल मौसी प्रबोध के साथ अधिक खुली रहती हैं। नानी उसे खुद बुला कर बातों-बातों में मौसी को अटका-फँसा कर अलग हो दूर-दूर हट जाती हैं। पर वह मुझसे हटती नहीं। कभी-कभी आपकी बातें पूछ हँस भर देती है। जैसे उसने कभी आपको जाना हो, पर प्रबोध फिर उसे बातों में लगा पास कर लेता है। कल जो मौसी के घर गई, तो वह पहले से ही बैठा था। मुझे देख कर मौसी उसके पास गई नहीं। मेरे पास बैठी-बैठी आपकी बातें करती रहीं और वह चलते समय धीरे से बोला था—"कमला, तुम न जाने क्यों, कट रहा करती हो? मुझसे भी अधिक वह लड़की तो है नहीं..."

और मौसी इसका उत्तर देने के लिये बाहर गईं। मैंने सुना, प्रबोध को जाते हुये कह सुना रही थी कि प्रबोध तुम नहीं जानते। अगर जान लेते, तो कितना अच्छा होता! खबरदार, वह राजन की भतीजी है, जो उसके सम्बन्ध में कुछ कहा! फिर

मेरे पास आ कर बोली—"शान्ति, कुछ खायगी, कभी-कभी तो आ जाया कर।" प्रबोध आँखों के पास आ गया, पर मन से लग कर हट गया। चंचल भावुक युवक था। उसने भी कमला को भाँप कर कुछ कहने को सोचा होगा।

और एक दिन प्रबोध का निमंत्रण आया था दावत का। नीचे कमला के भी हस्ताक्षर थे। दिन भर सोच में चला गया और शाम को जब प्रबोध और कमला स्वयं आ कर घर पर मिले, तो मैंने देखा कि कमला में कोई घिरानापन नहीं था, वही सदा की नारी कमला पास आ मानो बोलना भर चाहती हो, पर बोल पाती न थी। हरी साड़ी में छिपी-धरी एक रेखा-सी उसकी हँसी को भी अपने से बाहर न पाया था, पर वह जैसे पास आने में कुछ लगने लगती थी। अपने को छिपाये भर दूर रही कि प्रबोध बोला—"आज पिकनिक का प्रोग्राम है। आपको भी साथ ले चलने को जी कर रहा है। दावत भी है।"

और कमला? प्रबोध के पास बैठी हुई कमला ने ज़रा देखा, तो और भी जैसे सरक *कर पास आना भर चाहती हो! आँखों-आँखों में कुछ कहा। हृदय के परतों के नीचे* वह उतर गई, पर कुछ बोली नहीं।

और मैंने सोचा, सोचा और सोचा कि प्रबोध कमला के मन से बँधा है। उसकी हँसी में कुछ टटोल कर अटक भर जाना चाहता होगा। वह भी मनुष्य है, स्त्री की छाया में अपने को सुला-जगा कर सुखी होना ही चाहता होगा, कि कमला बोली—"चलिये, मिस्टर प्रबोध! राजन आ ही जायँगे, देर हो रही है। कमला का घिरानापन अब भी आँखों से दूर रहा। चौदह साल की कमला जिसे छोटे से बड़े होने तक खूब पढ़ा था, उसमें परायापन अब भाँप, देख, समझ सका नहीं। फिर भी कुछ लग ही गया, पर प्रबोध नहीं माना। साथ ही शान्ति को भी ले चलने को कहा। मैं जाना न चाह कर भी चल दिया। रास्ते भर कमला चुप रही। शान्ति ने भी अधिक उसे तंग न किया। दावत भर कमला खिंची-खिंची रही—आँखों के आगे, पर मन के पीछे। चलते समय प्रबोध ने सुनाया कि मेरा विचार अब की गरमी में मसूरी जाने का है। साथ ही कमला भी जाने वाली है। उसी प्रोग्राम की खुशी में यह आज की दावत है।

चौथे दिन कमला को पत्र लिखा—

"कमला!

तुम बोलोगी नहीं—मेरे बुलाने पर भी नहीं। फिर भी जैसे तुम्हें बोलना पड़ेगा, प्रबोध के साथ जाने के लिये मैं तुम्हें मना करता नहीं, पर फिर भी तुम्हें पास रख

जी भर देख लेना चाहता हूँ । और तुम भी तो नारी हो आँखों की मानी और हृदय की पहिचानी हुई । शान्ति को भेज रहा हूँ । अपना चित्र दे देना, अच्छा !

तुम्हारा,
राजन"

फिर शान्ति को बुला कर पत्र दे समझा-बुझा बोला—"इसे अकेले में मौसी को देना, समझीं ?"

और शान्ति चल दी । बाहर देखा, तो प्रबोध और कमला खड़े कुछ बातें कर रहे थे । वह रुक सकी नहीं । सीधी अन्दर चली गई । वहाँ नानी से जो कुछ उसने पाया उससे वह मौसी को भूल गई । लौट कर आई, तो कमला अकेली थी । उसकी आँखें जैसे भरी-भरी थीं । और उनमें मानो सारे विश्व का उपहार भरा था । वह बोली नहीं ; केवल शान्ति के पास चुप आ खड़ी भर हो गई । और शान्ति जैसे उसे छोटी हो कर भी पढ़ चुकी थी ; कुछ झेंप, सकुचा कर बोली—"क्या राजन चाचा की याद आ रही है ?"

चुप !

अब की बार शान्ति ने पग आगे बढ़ा कर कहा—"मौसी, चाचा ने दिया है ।"

कमला सहेज गई । सोचा, वह भी अपना है; ज़रा सोच, पास आ, कुछ पढ़ लेना भर चाहता है । और क्या प्रबोध से भी अधिक वह कि प्रबोध का चित्र सामने था । वह भी मनुष्य है । अपनी धरोहर में उसने भी किसी को पाया है । लेकिन वह करे क्या, प्रबोध और राजन !

अब से बहुत-बहुत पहले उसने उसमें एक बात पाई थी । उस दिन वह कालेज से आ कुछ कह देना चाहता था, और वह लज्जा से दबी, मुस्कानों से ढँकी कुछ बोली नहीं थी । गोलरिंग पर रुमाल कसा था, अँगुलियों में नीले डोरे की सुई उलझी थी, वह कुछ बुन रही थी कि उसने आते ही सुनाया था कि मेरा बटन टूट गया है कमला...और वह ज़रा-सा हँस, झुक, खुल कर उसे उस नीले डोरे से टाँक भर गई थी । सिल्क की पतली कमीज़ पर नीला डोरा भर उसने धरा था । जैसे वह डोरा उनके मन में उतर कर बता देना चाहता था कि 'ओ राजन ! यह भी एक नई चीज़ है, तुम्हें सदा पास रखने के लिये ही कर रही हूँ । और तुम क्या इसे क्षमा न करोगे...?' कि शान्ति बोली—"मौसी, चाचा कल कह रहे थे कि अब इलाहाबाद जाऊँगा । यहाँ प्रैक्टिस कुछ चलती नहीं है । तुम्हें बुलाया है, शाम को चली आना ।"

दूसरे दिन पार्क गया, तो देखा कमला भी वहीं थी । मिलते ही उसने नमस्ते किया, फिर ज़रा दूर हो जैसे अलग हट समझ गई थी ।

मैंने कहा—"कमला, मेरी भी कुछ सुन लो। मैं थोड़ा अधिकार रखता नहीं! फिर भी जी करता है कि तुम्हें आँख भर, जी भर निहार पास रख लूँ। तुम जीतीं, और मैं हारा! प्रबोध को अपना स्थान देकर मैंने जाना कि कमला अब विरानी है। मसूरी-टूर की खुशी में भी विरानी रहेगी। लगता है कि तुम मुझे क्षमा करोगी नहीं। इलाहाबाद जा रहा हूँ, तुम्हें चिट्ठी लिखी थी कि बात अधूरी रह गई। प्रबोध बीच में आ गया। उसे पास कर दूर हट जाना पड़ा। कमला एक ओर सरक अटक गई।

शाम को शान्ति के हाथ सिल्क की एक कमीज़ और पाँच रुपये का एक नोट कमला के पास भेजा।

खोला, तो उसने वही पाया, जो आज से चार साल पूर्व मिला था। कई बार धुलने के कारण फट चली थी। उसी के छेद में उसी के हाथ का भरा हुआ 'नीला डोरा' ज़रा हलका हो टूटना चाहता था।

फिर उसने पाया कि एक शाम को मैं गाड़ी में बैठ स्टेशन की ओर चल पड़ा था। इलाहाबाद की ट्रेन आई। मैं चढ़ पाया, तो सिगनल के पास एक ताँगे में बैठी कमला कुछ सोच रही थी। उसके हाथ में एक कमीज़ थी, जो कई बार धुलने के कारण फट चली थी। उसी के छेद में भरा हुआ 'नीला डोरा' ज़रा हलका हो टूटना चाहता था।

छाया-गीत

प्रभा अपने भीतर अब कोई बात पाने लगी है। मन में जो एक पीड़ा जमी है, उसे वह छिपा नहीं पाती है। कुछ व्यवहार से हट ज़रा सामने हो, वह पीड़ा आँखों-आँखों में ही न रह, जैसे हँसती-हँसती कह जाती हो कि प्रभा, देखो तुम टूटना मत। समाज, संसार, लोकाचार तुम्हें क्यों उलझायें? जो बाहर है वह तुम्हारा है, और उसी पर टिकी-टिकी तुम रहना। इस बात से प्रभा का मन कुछ कठिन हो आता है। उस कठिनता की तह में एक हलकी छाया देख, वह सिहर उठती है।

ज़िन्दगी में उत्तम की कुछ ऐसी पकड़ आई है कि उसे याद नहीं रहता कि वह उत्तम है, और जब कि स्वयं प्रभा, वह प्रभा है ज़रूर, पर उत्तम से हटने की बात होती है, वहाँ दिल का एक कोना खाली हो जाता है और वह कोना भारीपन से भर आता है; इतना भारी कि बैठना नहीं भाता है। और तभी उस खड़ी-खड़ी प्रभा से उत्तम जैसे कहने लगता—'प्रभा, ज़रा अपने को समझा लो। मैं यही चाहता हूँ। तुम रहो, रहो ज़रूर; पर अपने से बाहर क्यों रहो? और जो दूर, बहुत दूर, जहाँ पर आँखों का टिकाव एक लकीर-सा बन तुम्हें निहार चुका है, वह क्या अब ऐसा ही रहेगा?'

फिर वह क्यों उसके लिये बहके?

एक अनजान पीड़ा लिये खिली-खिली रहे वह; पर उत्तम से भली भर! यही उसने जाना है। उत्तम उसका दूर का सम्बन्धी है। यह सम्बन्ध उसने सोचा है। कई बार क्यों उसमें उलझी। तब वह यह जानना चाहती थी कि उत्तम उसे क्यों अच्छा लगता है।

बात ज़रा उभरी।

उस बार वह क्यों उसके सामने सोई-सोई-सी रही और सिर की धोती का एक सिरा ज़रा हटा-हटा रहा होगा, उसमें लटी-लटी, पतली-पतली अँगुलियाँ भी...और समीप उत्तम, पीछे माँ। तब क्या उसने समझा न होगा कि प्रभा ज़रा थकी रही है? हाँ, एक बहाने में था, मनमुताबिक घर लेटी-लेटी रहना चाहती है। और उत्तम ने माँ की ओट ले सुनाया था – आजकल दिन में नींद अधिक आती है।

प्रभा मज़ाक के बाहर ही ठहरी। वैसी ही रही और हिली नहीं; जैसे पास आ मन में कहा—'सुनो जी, मुझे लेटी ही रहने दो। समाज का परदा कहाँ तुम तक आने देता है? ज़रा ऐसे ही भर जाती हूँ।' प्रभा कुछ बोली न थी। मन की विवशता को नाप, उसे तौल वह समझ चुकी थी। चाहा कि कुछ बोले, पर मन मार रह गई।

और तब उसने देखा कि सामने जो पुरुष बैठा है, वह एक पहेली-सा हो, मन के नीचे उतर रहा है। उसमें एक गहराई है।

फिर एक हलकी, स्वस्थ अँगड़ाई ले वह हिली। ज़रा मुँह खोला, पाया उत्तम ही है। आँखें मींच, विचारों में खो गई। सोचा, गुलाबी साड़ी के एक सिरे से बिखरे-बिखरे बाल और उनमें अस्त-व्यस्त मैं क्या ऐसी ही पड़ी रहूँगी? और क्या उत्तम इसे समझता नहीं है?

और माँ?

अब वह कुछ झिझकी थी कि पीछे से दो हाथ आ कर साड़ी पर रुक गये, कुछ आगे बढ़े, साड़ी सँभाली और फिर रुके ही रहे। उन हाथों का स्पर्श वह सह चुकी है कि माँ पीछे से घूम सामने आई कहती-कहती—"प्रभा, ऐसी ही रहेगी? न लाज, न शरम; जा अन्दर लेट!"

पर वह उठी नहीं।

ज़रा दब-दबा चद्दर से ढँकी लेटी ही रही। जैसे कहना चाहती हो कि तुम्हारा क्या जाता है? मैं लेटी हूँ, मुझे लेटी ही रहने दो न! और यह उत्तम......उससे लाज? छिः! फिर माँ कुछ बोली नहीं। और तभी वह उठी, धीरे से साड़ी सँभाली फिर मन्थर गति से झुक, थोड़ा-सा हँस, उसे झेंप, एक ओर अख़बार हिलाती-हिलाती चली गई। और उत्तम को लगा कि वह नारी अपनी भावनाओं को बिखेर, ज़रा खुली-खुली मन में आ टिक भर गई है। एक घटना से सट, ज़िन्दगी को हटा, वह प्रभा क्या ऐसी ही रहेगी—और बोलेगी नहीं?

जब उत्तम चला गया, तो वह कुछ ढीली हो पास आई। मन भरा था, जहाँ पर बोझ-सा था, वह स्थान खाली हो गया था; खाली ही रहा। शाम को माँ ने उत्तम के सामने लेटी रहने के लिये जली-कटी सुनाई। तब उत्तम सामने लगा, पर वह चुप ही रही। जैसे उसका मन कह रहा था—क्या माँ मुझे समझती नहीं है। और फिर उसके विचारों से यह बात अनायास ही जुड़ गई कि उत्तम वहीं तो है, जिसे देख, सुन, समझ माँ खिली-खिली सुझाती कि प्रभा, तू इसी के साथ जायगी, जायगी और रहेगी।

और अब उत्तम जैसे कह उठता—"हाँ, हाँ, प्रभा, तुम मुझमें अपनी बातें छिपा देना और पाना कि मैं तुम्हारा हूँ।"

उस बार ज़रा उत्तम रूठा, चलने-चलने को हुआ, माँ पास आ बोलीं—"उत्तम! तुम्हारी ज़िम्मेदारी ज़िन्दगी में अधिक है। मैं कहती हूँ कि मेरी प्रभा रानी भी इसमें से कुछ हिस्सा बँटा ले।"

फिर माँ यह सब क्यों करती हैं? एक पुरानी बीती याद लिये वह जीवित रही है। और उसने सोचा, उस बार ऐसे ही उत्तम का नाम उसके सामने लिया गया था। तभी एक श्रद्धा बाँट उसके समीप वह पहुँच चुकी थी। और आज?

ठीक, ठीक, ठीक!

यह उत्तम से क्यों हटे?

उस रात वह जी भर सो न सकी। एक मानसिक गृहस्थी में आ जैसे वह अपना स्थान समझ चुकी थी। और फिर उत्तम कभी आया था, कुछ सँभला सँभला। और वह अब क्या करे? जो एक सुख बना है, वह सुख उत्तम का सहारा ले सामने खड़ा है। माँ थी नहीं, वह कुछ सकुचाई। फिर छोटे भाई के साथ गिलास में भर भर कुछ भेजा। उत्तम बैठा रहा सोचता-सोचता कि यह जो नारी प्रभा है, वह कितनी व्यस्त रहती है। जैसे काम में जुट, अपने को भूल, वह अवकाश नहीं पाती रही है।

आनेवालों की पूरी फ़िक्र रहती है, ज़रा कभी-कभी डाँट-डपट भी करती रहती है, और तभी मेज़ से गिलास पकड़ा, कहते-कहते—"अभी-अभी मैं चाय पीकर आया हूँ...!"

और अन्दर प्रभा ने तुनक कर सोचा, पी आये हो तो एहसान क्या, मत पियो! कोई ज़ुल्म थोड़ी ही है!

विनोद ने सुनाया—"दीदी, आजकल चाय का विरोध कर रही है। वह नशा है। स्वास्थ्य के लिये नुकसान करती है!"

और उत्तम ने वह गिलास उठा, फिर सोचा, ऐसी सर्दी में यह शर्बत क्यों दिया गया है? तभी उस गहरे रंग के गिलास की धूमिल छाया में उसे प्रभा का हँसता-हँसता मुँह दिखाई पड़ा। जैसे कहना चाहती हो कि पीना हो तो पियो...और अब तो तुम्हें पीना ही पड़ेगा। उत्तम ने एक घूँट उतारा।

खिड़की की ओट से, प्रभा ने देखा—वह सर्दी को जैसे शर्बत के साथ झेल रहा है। और उसने चाहा कि वह प्रभा का सारा शर्बत क्यों न पी जाय...! कि प्रभा ने पुकारा—"उत्तम!"

उत्तम ने सुना—उत्तम। कोई बुला रहा है। पर वह क्या करे, क्या प्रभा को चाय न पिये? नहीं, नहीं, नहीं! और...घुट...घुट...घुट।

"उत्तम!"

यह नाम उसी का है। पर अब उसे उससे कुछ वास्ता नहीं है। वह बेनाम का मनुष्य हो रहा है। सर्दी से ज़रा काँपा...चाय है...ज़रा ठंढी भी और एक घूँट नीचे।

"उत्तम!"

तो वह क्या करे? और क्या प्रभा ने सच उसे पीने के लिये नहीं दी है। दाँत बँध रहे थे...और अब वह गिलास मुँह से हटाना नहीं चाहता है। वह उसी प्रकार गिलास पर रुका है। जैसे रुका ही रहेगा। ज़रा और रुका, तो कुछ पतली-पतली अँगुलियाँ उससे उलझ गईं। और उनका लगाव एक नारी से पा कर वह सहम गया। कि प्रभा ने ज़रा ज़ोर लगा कर कहा—"अरे.. आप...बस......बस...!"

उसे सुन उत्तम ने चाहा कि कुछ बोले, पर प्रभा की चाय? और घुट...घुट...घुट...।

हाथ हटाया, तो गिलास प्रभा के हाथ में उलझ गया। उसे एक ओर रख, वह हँसती-हँसती चौंकती बोली—"जाड़े में भी आप शर्बत को इतना प्रिय समझते हैं।"

और उत्तम ने सोचा—यह नारी क्या सदा इसी भाँति उलझाती रहेगी, एक पहेली ही बनी रहेगी? बोला—"अपने को दी हुई चीज़ थी। ज़रा अच्छी लगी, फिर आप...।" आगे बात उसी में खो गई।

और यह सुन, प्रभा बोली—"मैंने तो ऐसे ही आपसे कहा था...!"

उत्तम मज़ाक़ में आ गया। बोला—"अधिकार अधिकार ही है। वह आपका हो और चाहे मेरा। फिर उसे हम आपस में बाँट ज़िन्दगी का बाक़ी सफ़र पूरा क्यों न कर लें?"

"जाड़े में शर्बत!...कहीं आपको...कुछ...।" आगे सुन न सका। प्रभा चुप हो गई, ख़ूब गम्भीर-सी। फिर खिलखिला कर हँस पड़ी।

प्रभा सामने खड़ी है, और उसे याद नहीं है कि उसके बालों की एक लट भी खुली हो सकती है। नीली साड़ी का एक सिरा कुछ हटा है, जहाँ पर हटा है, वह और भी खिली-खिली है...कानों में बुन्दे...पैरों में चप्पल! यह सब उत्तम को काफ़ी उलझा गया है। उसे वह कैसे सुलझाये। वह एक गाँठ-सी हो मन के भीतर ही प्रभा का निर्माण कर सुलझ जाती है—कि ओ उत्तम, मैं यहीं रहूँगी, कहीं जाऊँगी नहीं। और देखूँगी कि मैं कितना सुख-दुःख बाँट निभ पाती हूँ। फिर ज़रा

सोच वह बोली ही—"माँ ने आपका नाम लिया था ऐसे ही। तभी सारी श्रद्धा सौंप ज़िन्दगी को अलग कर मैं अपने से बाहर हो पड़ी थी। और...आज?"

उत्तम ने झट कहा—"प्रभा! ज़िन्दगी को समझना एक काम है, फिर भी जो मेरा है, उस पर तुम जमी हो। और तुम्हें ले यदि मैं चल सका, तो जीवन सफल समझूँगा। माँ की बात का विचार खोना पड़ेगा।"

प्रभा जैसे अपने को पा अब खुशी हो गई हो। जैसे कहना चाहती हो कि हाँ, हाँ, यही तो...और अब समझे आप!

उसकी याद आज फिर नये सिरे से ताज़ी हो आई है।

× × ×

अपनी याद की बेञ्च पर सन्ध्या को प्रभा ने लिली के फूल के पास खेलते हुये अपनी सखी से जीवन के वैवाहिक पहलू को शुरू करते हुये कहा था—"शर्बत पीने के बाद उत्तम को रात में निमोनिया हो गया। वह हारा-थका बेचारा विवशता में आ अपनी भावनायें ले चुपचाप चारपाई पर पड़ रहा। आधी रात को उसकी तबीयत अधिक बिगड़ी।

फिर अलबम से चित्र निकाल बोली—"यह तब का है।"

"और डाक्टर ने बताया है कि अब रोग कठिन हो गया है। और ...दो बजे...?"

प्रभा रो रही थी। कहना जारी रहा—"वह बड़बड़ाया करता, कहता, मुझे पीने दो।...हाँ...वह चाय...और...हाँ, हाँ, हाँ'

यह सब क्या है?

उसकी हिचकी बँध गई थी।

चित्रों को हाथ में लिये वह बोली—"यह तब का है। चार बजे...वह थका-थका चुप...चुप रहा कहीं...और...और...तब...शायद...।"

"प्रभा!" सखी ने कहा—"वह बहुत अच्छे थे, समझदार, और भावुक भी... और ऐसे ही..." आँसू थमते ही न थे।

"और यह..." वह कह रही थी—"अन्तिम है। उत्तम मर गया।"

तभी अंधकार बढ़ा, उसमें वे दोनों परस्पर—नारियाँ विलीन हो गईं। जैसे सब स्पष्ट उदय न होगा। थोड़ी देर बाद लोगों ने एक पथरीली पगडण्डी पर एक नारी को अस्थिर गति से दूसरी नारी को सँभाले चलते हुये देखा।

उस घोर अन्धकार में उन दोनों की छाया कैनवास पर खिंचे चित्रों के समान थी!

अधूरा मिलन

जग्गो ने लेटे ही लेटे कहा—"तो मैं क्या करूँ, बीनू! अगर तुम्हारी नज़रों में मैं भली नहीं हूँ, तो मुझे मेरे बाप के घर भेज दो। मैं समझूँगी कि मेरे भाग्य में यही लिखा था!"

बीनू हँस दिया। उस अँधेरे में उसकी हँसी में एक भारीपन और अविश्वास का हलका रंग भरा था। यह अविश्वास जो व्यर्थ ही दो आँखों के बीच एक दीवार का काम करता है—जिसमें घृणा, अवहेलना और उपेक्षा के बीज बढ़ कर वृत्ताकार हो जाते हैं। मानो वह कह रही हो—बीनू! तुम जग्गो की उलझी हुई बातों में न आ जाना, यह तो नारीत्व का स्वभाव है। इसी में तो वह अपने किये हुये अतीत के पापों को दुबका लेती है, इसी में तो उसका सारा अधूरा स्नेह पनपता है, और यही तो उसका अपनापन है। फिर उसने सिर से चादर उतार कर कहा—"तो मैं तुम्हें कुछ लगा थोड़े ही रहा हूँ, जो इतना बुरा मान गईं! अब मैं कुछ भी न बोलूँगा।"

उसने उठ कर तेल की ढिबरी जलाई। देखा, जग्गो रो रही थी। उसके भोले, गोल मुख पर आँसुओं की सूखी हुई सुनहरी लकीरें चमक रही थीं, जो अब दीपक के धुँधले प्रकाश में साफ़-साफ़ पढ़ी जा सकती थीं। उसने कहा—"जग्गो!"

वह गुमसुम!
"जग्गो!"
वह चुप रही।
"जग्गो!"
अब की बार वह समझ गई, बोली—"हूँ!"

बीनू का हृदय भर आया। उसके नेत्रों ने वह सदा की भाँति हँसती-खेलती आ कर उसे सुझा गई कि बीनू! मैं तुम्हारी ब्याही हुई तो हूँ नहीं। मैंने तुम्हें प्यार किया था, यह सोच कर तुम मेरी भूलों को मेरे दिल से निकाल सकोगे...और मेरी उलझी हुई मुद्रा को सुलझा कर कह सकोगे—'जग्गो! वह तुम्हें भूल गया है, तो क्या हुआ, मैं तो नहीं भूला हूँ!'

जग्गो की बेबसी ने बीनू के हृदय में एक हलचल मचा दी। वह सोचने लगा, क्यों वह उसके बारे में ऐसा सोचता है? नहीं, यह सब झूठ है, उसकी जग्गो अपवित्र नहीं है। मगर वह? अब वह काँप रहा था। उसी ने तो उस दिन मेले से आ कर कहा था—मैं उसे चाहती थी। किन्तु आज किन्हीं अनबूझी शक्तियों का खोया हुआ रूप उसे दूर पर रंगरेलियाँ करते हुये दिखाई दिया। वह जग्गो को प्यार करता था। उसने अपनी बहुत-सी छोटी-छोटी बातें उसके जीवन में छिपा दी थीं, जो अब बरबस अन्दर से निकल कर बाहर बिखर पड़ना चाहती थीं। जग्गो के आँसुओं ने बीनू के चारों ओर वह दीवार खड़ी कर दी थी, जिसे वह तोड़ना चाहे, तो तोड़ नहीं सकता था। बीनू दियासलाई की डिबिया ले कर उसके पास पहुँचा। फिर उसके माथे पर हाथ रख कर बोला—"जग्गो! छिः रोती हो! कैसी पागल की-सी सनक है!"

वह चुप न हुई। अब बीनू को अपनी गलती पर पूरा विश्वास हो गया। उसके विचारों की खोई हुई छाया में जग्गो के प्रति सहानुभूति की सिसकनें चत्कार फाट चुकी थीं। उसे स्वयं अपने से घृणा होने लगी। स्त्री पुरुष की दासी है, वह उसके इशारों पर चलना चाहती है। उसके चरित्र पर दोष लगा कर क्या उसने उसे बदनाम करने की कोशिश नहीं की? वह दाँत पीस कर सोच रहा था—काश, उसने ऐसी बात न कही होती...लेकिन उसे क्या पता था कि वह इतनी जल्दी उससे बुरा मान जायगी...किन्तु वह? इस विचार ने न जाने क्यों, उसके ओंठ फड़का दिये...नहीं, वह इतना भोला नहीं है।

तुरन्त के जले हुये दीपक की लाल-लाल रोशनी में वह उसकी व्यथा को समझ चुका था। बीनू उसके भार को हलका करना चाहता था। वह उसकी नश्तर चुभन को भुला कर उसे बता देना चाहता था कि तुम रोती क्यों हो, जग्गो? लो, मैं माफी माँग लेता हूँ, सच!

तभी उसके अलसाये हुये अधरों पर हल्की लकीर-सी मुस्कान में जग्गो की एक गूढ़ सा चित्र था, जिसे अपनी बाँहों में भरने के लिये कभी बीनू तरसता रहा था। उसकी आँखों की नमी बीनू को अब भी छिल रही थी।

बातों को इस प्रकार से शुरु होते देख कर जग्गो और भी फूट-फूट कर रोना चाहती थी। पर अकेले नहीं, वह चाह रही थी कि कोई उससे पूछे और वह उसके आगे अपने दिल को खोल कर हलका कर ले। उसकी इच्छा थी कि उसका अपना उसके रोने पर खुद ही आँसू निकाल दे, और तब वह उसे समझाये कि बीनू, तुम्हीं बताओ, अब मैं किस तरह ऐसे रह सकती हूँ? उसके गोल-गोल गालों पर ढुलक कर बहे हुये आँसुओं

को वह पोंछ कर बोला—"चुप हो जाओ ! अब कभी भी ऐसी बात न कहूँगा !"

रात को जग्गो ने अपने स्वामी के समीप से समीप सट कर रहना चाहा। पर न जाने क्यों, वह उसके पास तक न पहुँच सकी। मानो जीवन का सारा भार उसे बाँध-सा गया हो। उस अँधियारे में उसके स्वामी ने कई बार अनुभव किया कि वह बराबर डरी-सी काँप उठती थी।

उस दिन शाम को जग्गो रोटी बना रही थी कि उसने बाहर अपने स्वामी के साथ किसी व्यक्ति की आवाज़-सी सुनी। उस परिचित स्वर को सुन कर वह काँप उठी। उसने दरवाज़े की ओट से देखा, तो उसका भ्रम मिट गया। मिट्टी की ढिबरी के धुँधले प्रकाश में वह उसे पहिचान गई कि वह वही था। वह चौंक पड़ी। उसका हृदय कुछ कहना चाहता था—शायद उसकी बेरुखी पर नाराज़ हो कर वह उसे डाँटना भी चाहता हो। आज उसे फिर अपने माँ-बाप की याद आई, मानो अभी वह उन्हें घर छोड़ कर आई ही हो। क्वेटा का वह भयानक भूकम्प भी उसकी आँखों में घूम गया, जिसमें वह किसी के हाथों पर चढ़ कर अस्पताल पहुँची थी। इतना ही नहीं, उसे अपने मकान के साथ-साथ अपनी सारी ममता पृथ्वी में समाती हुई मालूम पड़ी थी।

जग्गो ने दूर तक उसे अँधियारे में जाते देखा। अब वह अपने को बिलकुल भूल गई थी। रात को उसका स्वामी जब खाना खाने आया, तो देखा तरकारी में नमक न था। रोटियों पर धुएँ के काले दाग़ लगे थे, और वे जली हुई थीं। उसने धीरे से कहा—"जग्गो, आज तूने खाना बिगाड़ डाला है ?"

जग्गो जल उठी। उसने तेज़ होकर उत्तर दिया—"तो मैं क्या करूँ ? मुझसे तो ऐसी ही बनती हैं। जी चाहे तो खा लो !"

वीनू की समझ में कुछ भी न आया। वह चुपचाप रोटी खाने लगा। उस रात को वह उसके पास अपना हृदय न बिछा पाई। कोने में रजाई ओढ़े वह न जाने क्या क्या सोचती रही। उसे याद आया कि बाज़ार के उस मोड़ पर अपनी छोटी-सी पान की दूकान पर बैठते समय वह कितनी खुश थी। वह दूकान ही उसकी दुनिया थी। आते-जाते युवकों का परिहास ही उसकी चंचलता से खेलता रहा। वह किसी तरह अपने ग्राहकों का मनोरञ्जन हो रही थी। कभी कोई पान माँगता, तो वह ग़लती से उसे गोल्डफ़्लेक की डिबिया दे जाती, तो कभी किसी से पैसे लेना ही भूल जाती।

उसकी उस अल्हड़ मुस्कान में पानी की लहर की तरह दूर हटी हुई वेदना की लीक थी। वह व्यस्त-सी अपने भावों को दबाये बैठी रहती। मानो उसे किसी चीज़ का अभाव अखरता हो, मानो अब वह बिना उसकी पूर्ति के अधिक समय तक और

न रह सकेगी। कोई उससे कुछ कहता नहीं था। कोई उसे पढ़ न पाता था। उसमें एक जादू था कि ग्राहक अपने को भूल जाता था। वह बहुधा गुलाबी धोती पहिनती थी, और साथ ही हाथ-पाँव में मेंहदी लगाना भी न भूलती थी। उसकी दूकान के ग्राहक अधिकतर पढ़े-लिखे लोग ही थे। और भी थे, पर वह उनके हाथ पान न बेचती थी। ये सवेरे आते थे और उस समय उसका पिता दूकान पर बैठा करता था।

सारा का सारा चित्र उस अन्धकार में उसे दिखाई पड़ रहा था। उसने रजाई से मुँह निकाला। देखा, बीनू सो रहा था। वह फिर सोचने लगी कि वह किस तरह बात-बात में लोगों को छेड़ा करती थी। किसी से कहती—"बाबू पान ही खा लो। सोचते होंगे, कि पैसा यों ही न ले ले। न बाबू, मैं ऐसी बेशर्म थोड़े ही हूँ। मत देना पैसा और क्या!" तो दूसरे से चुटकी लेकर बोलती—"आप तो अब पास हो गये हैं। मुझे सब मालूम है। मिठाई न खिलाओगे बाबू?"

वह अपने खास-खास ग्राहकों की लिस्ट-सी रखती थी, और पूरा-पूरा पता भी। दूकान की हलकी-पीली रोशनी में उसका गोरा चिट्टा-सा मुँह साफ़-साफ़ झलक उठता था, जिस पर पान की गहरी सुर्ख़ी बैठी मुस्कराया करती थी।

सहसा उसे याद आया कि उन दिनों एक ठाकुर का छोकरा उसकी दूकान पर पान लेने आने लगा था। वह स्वस्थ, सुडौल और सुन्दर भी था। पहले ही दिन उसने पान ले कर एक अठन्नी उसके हाथ पर रख दी थी। वह काँप गई थी। उसका बस चलता, तो वह उसे वापस कर देती; पर वह न माना था। सिर्फ़ मुस्कराता हुआ एक ओर चला गया था। वह कुछ समझना चाहती थी। मानो अब वह सँभलकर न रह सकेगी। अपनी आँखों की कोरों में उसने उस युवक को एक विचित्र मोहनी लाते हुये अनुभव किया था।

अन्य ग्राहकों के बीच वह भी खड़ा-खड़ा सिगरेट पिया करता। फिर सब के चले जाने के बाद वह चुपके से निकल कर उसके पास आता। उस समय उसकी भी आँखें उससे उलझ जातीं। न जाने क्यों वह उसे देख कर घबरा जाती थी। उसका हृदय धक्-धक् करने लगता।

एक दिन वह सदा की भाँति दूकान पर बैठी थी। ग्राहक जा चुके थे! रास्ता सूना था, कहीं इक्के-दुक्के लोग और चल रहे थे! सब के चले जाने के बाद, उसने धीरे से कहा—"सुनो, मैं अकेला हूँ—बिल्कुल अकेला!"

"तो मैं क्या करूँ, बाबू!"

"सुनो, यह दूकान-विकान सब छोड़! चलो मेरे यहाँ! मैं तुम्हें रानी बनाऊँगा!"

वह कुछ न बोली थी।

उस अँधेरे में भी उसने उसकी मुस्कान को समझा था। मानो वह उसकी स्वीकृति पर मुहर लगा रही थी।

फिर उसने धीरे से कहा था—"बीनू! यह मुझ से न होगा...!"

वह बात काटते हुये बोला—"जग्गो, अब मैं तुम्हारे बिना न रह सकूँगा!"

उसने लपक कर जग्गो का हाथ पकड़ लिया था। वह घबरा कर उठ बैठी थी। उसी गड़बड़ी में उसके हाथ की चूड़िया भी टूट गई थीं। ताक पर की टीन की ढिबरी ज़ोर से भक्-भक् करने लगी! उसने वहीं पर उसे कई बार ज़ोर से चूम लिया था—"जग्गो तुम मेरी...चलो!"

जग्गो शरमा गई थी। फिर उसने झट से अपने को सँभाल कर कहा था—"बाबू, तुम...!"

सहसा उसके हाथ पर उसने कोई चीज़ रख दी थी। एक पाँच रुपये का नोट था। जग्गो घबरा गई थी। वह अपने को सँभाल कर रखना चाहती थी। उसने मिट्टी के कूँड़े से पानी ले कर अपने गीले गालों को खूब रगड़-रगड़ कर धोया। मानो वह उसके अन्दर की सारी इच्छायें पानी से धोकर बहा देना चाहती थी। यहाँ तक कि उनसे खून निकलने लगा। अब उसने समझा था कि वह पवित्र हो गई थी।

फिर एक दिन बड़े ज़ोरों का भूकम्प आया। वह दूकान पर थी। चारों ओर मकान गिर रहे थे। वह घबराई-सी घर पहुँची थी। देखा, तो सारा मकान गिर चुका था। वह अकेली दरवाज़े पर खड़ी थी।

किसी ने भी उसे समझ न पाया था, किसी ने भी उसे पढ़ न पाया था। वह कुछ उलझी-सी अन्दर घुस गई थी। बस, फिर उसे आगे कुछ याद नहीं आया। आँख खुली, तो एक सुन्दर जवान उसे तेज़ी से लिये जा रहा था। उसने कराह कर कहा था—"पानी।"

बड़ा चीण स्वर था। उत्तर मिला—"जग्गो, अभी नहीं...!"

जग्गो! मेरा नाम! उसके हृदय में एक द्वन्द्व-सा उठ खड़ा हुआ। अपनी उस अस्त-व्यस्त तन्द्रा की हलकी खुमारी में भी उसने उसे पहिचान लिया था। हाँ, वही पानवाला युवक! उसने अपनी आँखें मींच कर उसके हृदय में घुस जाना चाहा था। फिर धीरे से बोली थी—"कौन, तुम...तुम...!"

और वह उसे चुप कर रहा था।

उसे याद आया, फिर वह बिलकुल अच्छी हो गई थी। उन नशीले दिनों में फिर से वह एक बार अपने को खोई-सी लगी थी। वह रोज़ उसे दूध के साथ हलका टानिक देता था। अस्पताल से आ कर वह उसी के घर रहने लगी थी। तब उसे

मालूम हुआ कि वह किस प्रकार ईंटों के नीचे दब गई थी। और किस प्रकार उसने पहुँच कर उसे निकाला था। यह बात सुनते समय वह एक बार सोच गई थी कि—क्यों न वह उसके साथ ब्याह कर ले? उसमें न जाने कौन-सी शक्ति थी, जो उसमें मिल जाने के लिये उसे विवश कर रही थी। किसी अज्ञात बन्धन में बँधी हुई वह उसकी ओर बराबर खिंच रही थी। वह उसके आगे अपने को हारी-सी पाती थी।

उस दिन वह कुछ शिथिल-सा था! उसकी भारी आँखें देख कर वह चौंक उठी थी। उसने डरते-डरते पूछा था—"आज क्यों सुस्त हो?"

पर वह कुछ भी न बोला था।

उस दिन उसने खाना न बनाया। लकड़ी जलती ही न थी। दियासलाई की कोड़ियों तीलियाँ फूँकने पर भी वह उसे जला न सकी थी। चूल्हे में पानी डाल कर वह उसके पास पहुँची थी। टीन की डिबिया के धुँधले प्रकाश में वह चुपचाप लेटा था। अन्त में उसने वही सुनाया, जो उसने बहुत पहले से ही सोच रखा था। वह एक सनक थी, पागलपन था। उसी झोंक में वह कह गया था—"जग्गो, मैं मर जाऊँगा! मैं अब तुम्हारे बिना नहीं रह सकता। जग्गो, जग्गो! मेरी रानी!"

इस उभार ने न जाने क्यों, उसे हिला दिया। फिर दूसरे ही क्षण कमरे की प्रत्येक वस्तु में उसे उसकी सुकुमार बाँहों में देखा था। कुछ सजग होते हुये उसने कहा था—"तो मैं कब मना करती हूँ?"

उनके ओंठ एक-दूसरे के ओंठों में सट गये थे। आज उसे अपने जीवन की सारी घटनायें याद आ रही थीं। वह अब रो रही थी।

हाँ...तो...फिर वह एक दिन मेला गई थी। वहीं पर वह उससे बिछड़ कर खो गई थी। साँझ हो गई, पर वह उसे न ढूँढ सकी थी। अन्त में एक आदमी ने कहा—"तुम को कहाँ जाना है?"

वह चुप रही।

"क्या तुम्हारा साथी खो गया है?"

वह गुमसुम।

"आखिर यहाँ कब तक खड़ी रहोगी। लोग क्या समझेंगे? चलो, मेरे साथ!"

वह कुछ सोच रही थी। शायद यही जो वह चाह रहा था। सोचा, जाना तो है ही...तो क्यों न चला जाय? यहाँ रह कर क्या करूँगी...। चुपचाप उसके साथ हो ली। पर एक बार उसने सारा हाल सुना दिया। उसकी आँखें भर गई थीं। अन्त

वह कुछ न बोली थी।

उस अँधेरे में भी उसने उसकी मुस्कान को समझा था। मानो वह उसकी स्वीकृति पर मुहर लगा रही थी।

फिर उसने धीरे से कहा था—"बीनू! यह मुझ से न होगा...!"

वह बात काटते हुये बोला—"जग्गो, अब मैं तुम्हारे बिना न रह सकूँगा!"

उसने लपक कर जग्गो का हाथ पकड़ लिया था। वह घबरा कर उठ बैठी थी। उसी गड़बड़ी में उसके हाथ की चूड़िया भी टूट गई थीं। ताक पर की टीन की ढिबरी ज़ोर से भक्-भक् करने लगी! उसने वहीं पर उसे कई बार ज़ोर से चूम लिया था—"जग्गो तुम मेरी...चलो!"

जग्गो शरमा गई थी। फिर उसने झट से अपने को सँभाल कर कहा था—"बाबू, तुम...!"

सहसा उसके हाथ पर उसने कोई चीज़ रख दी थी। एक पाँच रुपये का नोट था। जग्गो घबरा गई थी। वह अपने को सँभाल कर रखना चाहती थी। उसने मिट्टी के कूँड़े से पानी ले कर अपने गीले गालों को खूब रगड़-रगड़ कर धोया। मानों वह उसके अन्दर की सारी इच्छायें पानी से धोकर बहा देना चाहती थी। यहाँ तक कि उनसे खून निकलने लगा। अब उसने समझा था कि वह पवित्र हो गई थी।

फिर एक दिन बड़े ज़ोरों का भूकम्प आया। वह दूकान पर थी। चारों ओर मकान गिर रहे थे। वह घबराई-सी घर पहुँची थी। देखा, तो सारा मकान गिर चुका था। वह अकेली दरवाज़े पर खड़ी थी।

किसी ने भी उसे समझ न पाया था, किसी ने भी उसे पढ़ न पाया था। वह कुछ उलझी-सी अन्दर घुस गई थी। बस, फिर उसे आगे कुछ याद नहीं आया। आँख खुली, तो एक सुन्दर जवान उसे तेज़ी से लिये जा रहा था। उसने कराह कर कहा था—"पानी।"

बड़ा क्षीण स्वर था। उत्तर मिला—"जग्गो, अभी नहीं...!"

जग्गो! मेरा नाम! उसके हृदय में एक द्वन्द्व-सा उठ खड़ा हुआ। अपनी उस अस्त-व्यस्त तन्द्रा की हलकी खुमारी में भी उसने उसे पहिचान लिया था। हाँ, वही पानवाला युवक! उसने अपनी आँखें मींच कर उसके हृदय में घुस जाना चाहा था। फिर धीरे से बोली थी—"कौन, तुम...तुम...!"

और वह उसे चुप कर रहा था।

उसे याद आया, फिर वह बिलकुल अच्छी हो गई थी। उन नशीले दिनों में फिर से वह एक बार अपने को खोई-सी लगी थी। वह रोज़ उसे दूध के साथ हलका टानिक देता था। अस्पताल से आ कर वह उसी के घर रहने लगी थी। तब उसे

मालूम हुआ कि वह किस प्रकार ईंटों के नीचे दब गई थी। और किस प्रकार उसने पहुँच कर उसे निकाला था। यह बात सुनते समय वह एक बार सोच गई थी कि—क्यों न वह उसके साथ ब्याह कर ले? उसमें न जाने कौन-सी शक्ति थी, जो उसमें मिल जाने के लिये उसे विवश कर रही थी। किसी अज्ञात बन्धन में बँधी हुई वह उसकी ओर बराबर खिंच रही थी। वह उसके आगे अपने को हारी-सी पाती थी।

उस दिन वह कुछ शिथिल-सा था! उसकी भारी आँखें देख कर वह चौंक उठी थी। उसने डरते-डरते पूछा था—"आज क्यों सुस्त हो?"

पर वह कुछ भी न बोला था।

उस दिन उसने खाना न बनाया। लकड़ी जलती ही न थी। दियासलाई की कोड़ियों तीलियाँ फूँकने पर भी वह उसे जला न सकी थी। चूल्हे में पानी डाल कर वह उसके पास पहुँची थी। टीन की डिबिया के धुँधले प्रकाश में वह चुपचाप लेटा था। अन्त में उसने वही सुनाया, जो उसने बहुत पहले से ही सोच रखा था। वह एक सनक थी, पागलपन था। उसी झोंक में वह कह गया था—"जग्गो, मैं मर जाऊँगा! मैं अब तुम्हारे बिना नहीं रह सकता। जग्गो, जग्गो! मेरी रानी!"

इस उत्तर ने न जाने क्यों, उसे हिला दिया। फिर दूसरे ही क्षण कमरे की प्रत्येक वस्तु ने उसे उसकी सुकुमार बाँहों में देखा था। कुछ सजग होते हुये उसने कहा था—"तो मैं कब मना करती हूँ?"

उनके ओंठ एक-दूसरे के ओंठों में सट गये थे। आज उसे अपने जीवन की सारी छायायें याद आ रही थीं। वह अब रो रही थी।

हाँ...तो...फिर वह एक दिन मेला गई थी। वहीं पर वह उससे पृथक् हो कर खो गई थी। शाम आ गई, पर वह उसे न ढूँढ़ सकी थी। अन्त में एक आदमी ने कहा—"तुम को कहाँ जाना है?"

वह चुप रही।

"क्या तुम्हारा साथी खो गया है?"

वह गुमसुम।

"आख़िर यहाँ कब तक खड़ी रहोगी। लोग क्या समझेंगे? चलो, मेरे साथ!"

वह कुछ सोच रही थी। शायद वही जो वह चाह रहा था। सोचा, जाना तो है ही...तो क्यों न चला जाय? यहाँ कब तक खड़ी रहूँगी...। चुपचाप उसके साथ हो ली। घर जा कर उसने सारा हाल सुना दिया। उसकी बीवी मर गई थी। अन्त

में उसने उसके मचलते हुये अनुरोधों को मान लिया, और अब वह उसी के साथ तो है।

आज शाम को वही तो उसके स्वामी के साथ आया था। उस रात भर जग्गो सिसकियाँ भरती रही। सुबह उठ कर अपने स्वामी के मुँह से उसने जो सुना, तो उसका सारा भ्रम जाता रहा। उसने कहा—"वह कह रहा था कि जग्गो पहले मेरी बीबी थी।"

यही तो उसने रात में भी कहा था। इसी बात ने तो उसके दिल में वेदना की एक इमारत ला खड़ी की थी। इसी बात ने तो उसकी आँखों में आँसुओं का प्रवाह ला उपस्थित किया था। वह कुछ न बोली।

आकाश साफ़ था। पक्षी उड़ रहे थे, मानो वह सोच रही थी कि अब इस अपूर्व याद को ले कर क्या करेगी।

उसी समय बीनू ने उसकी ठोढ़ी हिला कर कहा—"क्यों? क्या नाराज़ हो?"

और वह हँस दी। मानो यह भी उसका 'अधूरा मिलन' था।

आनन्दी

आज मन के पास बहुत-सी भाभियाँ जमा हैं। ये भाभियाँ कहीं पर कुछ फीकी नहीं हैं। इनका अपना एक रोजनामचा है। भारी पीड़ा वहाँ पर है; और मन में इनके प्रति खूब-खूब याद है। एक खास संजीदगी के दायरे में भाभियाँ न जाने क्यों, देवरों को ला सोचने की आदी हो जाती हैं। तब नई-नई बातों को दूसरों पर फैलाना वे खूब सीख जाती हैं। बँधी-बँधाई गृहस्थी का उत्तरदायित्व निभा; मन भी बँटाना उन्हें खूब आ जाता हैं। पास जाओ, तुनुक कर पीछे हटेंगी। एक हाथ से दरवाज़ा पकड़, हँस, खिलखिला कर कहेंगी—"खूब! किसी की याद आ रही है?"

तब अपनी गहराई नापना वे पसन्द नहीं करतीं। केवल छाया-सी बात बिखेर, पीछे छिपे रहने में भी खूब सावधानी वरतना उन्हें आ जाता है।

वैसे ये दिन भर मज़ाक़ जुटाती रहती हैं। मन से खेल, आँखों-आँखों में कह ये भाभियाँ जैसे बस, केवल मन बहलाव के लिये ही आती हैं। और होली का दिन इनके मज़ाक़ का खास दिन होता है।

आनन्दी भी इनमें से एक है। पूरे सत्रह साल पार कर अठारहवें में आई है। अन्य भाभियों की भाँति आनन्दी भी खूब जानकार है। बातों के सिलसिले में भारी पीड़ा बिखेरना उसे खूब आता है। दिन भर चुहुल बनी पूछेगी—'कहाँ रहे इतनी रात?' अपने प्रश्न का उत्तर स्वयं पा फिर कुछ बोलेगी नहीं।

आनन्दी पड़ोस के भाई साहबी नाते से भाभी लगती है। ये भाई साहब रेल में नौकर हैं। बेचारे ठीक आठ बजे ड्यूटी पर जाते हैं। और रात को जब आनन्दी की आँखें रास्ता देखते-देखते पथरा जाती हैं, तब ये कहीं वापस आते हैं।

आनन्दी ने अपना कुछ छिपा कर इनसे नहीं रखा है। जब से घरवालों ने हल्दी से हाथ पीले किये, आनन्दी ने कभी कहीं पर उनके साथ चलने से आनाकानी नहीं की है।

आनन्दी का यह रिश्ता अपना एक खास इतिहास रखता है। तब आनन्दी पड़ोस में नई-नई आई थी। पीछे बहिन ने सुनाया था कि आनन्दी बहुत सुन्दर है। अपनी इस बात के लिये मैं कोई खास कसौटी नहीं रखता, न मैं कुछ इसके लिये प्रमाण ही जुटाता हूँ। एक दिन शाम को खिड़की से दो काली-काली आँखें भर देखीं

थीं। और आज उन्हें आनन्दी मान लेने में कहीं कोई हिचक नहीं है। आनन्दी मन के निकट तब गहरी उतरी थी।

और आज आनन्दी सुबह से ही घर पर है। कभी-कभी आनन्दी बड़ी सरल लगती है। तब जी से उलझ, थोड़ी देर के लिये मैंने अपने को समझाया भर है। वहीं आनन्दी को बैठा, हँस, खिला, देर तक मन बहलाया है। तब आनन्दी ने इच्छा न रहते उसे भी मन में केवल अपने को सौंपा भर है, कि आनन्दी सामने आई प्रश्न जुटाते बोली—"आज तो ऑफ़िस बन्द है ?"

"क्यों ?" कहा था मैंने।

"होली जो है।" बोली थी आनन्दी।

"होली..." बात हलके गुनगुनाई गई थी। कहीं पर कुछ गहराई न आई थी तब। पिछली होली में इस आनन्दी की छोटी बहिन आई थी। वह अल्हड़ लड़की भी उन दिनों खूब मन बँटाती लगी थी। सुबह से ही घर आ जाती। स्वप्न-सी बिखरी रहती। कानपुर की लड़कियों पर बातें करते-करते रुकती। आगे पढ़ाई-लिखाई का जाल बिछा वह हँसती, खिलखिलाती, कहती 'जीजाजी' मैं तो आपके साथ शादी करूँगी।' तब उसकी बात सोच लेने के बाद बड़ी हँसी आती थी। आज सोचता हूँ, यदि सच ही शीला ज़िन्दगी में आती तो क्या होता ? आनन्दी ने एक दिन सुबह सुनाया था कि शीला हैज़े से मर गई।

'शीला !' बोला था मैं।

सामने आनन्दी तब खूब जी भर फूट-फूट रोई थी। शीला मन से उलझती-झगड़ती लगी थी खूब, तब शीला को हलके समझ लेने को जी चाहता था। होली के दिन आनन्दी ने उसे खूब सिखाया-पढ़ाया था। शाम को पैन्ट पहिना, ज़रा टहलने निकला, तो पाया उसकी जेबें कटी थीं। पीछे पता चला था कि यह शीला की कार-स्तानी थी।

पर आनन्दी खड़ी की खड़ी रही। जैसे भीतर जाने की सामर्थ्य वह हारी है। एक बार मुझे देखा। बाहर भी आँखें गई होंगी तब। सावधानी बरतती आनन्दी चलने को हुई। मैंने रास्ता रोक लिया। एक बार फिर आनन्दी की बड़ी-बड़ी आँखें ऊपर उठीं। लाल-लाल पाया था तब उन्हें मैंने। वे आँखें सुझाती लगीं—हट जाओ, दिनेश बाबू ! रास्ता छोड़ दो ! और क्या तुम्हें नहीं लगता कि मैं परवश हूँ। तुमने देवर का रिश्ता क्यों जोड़ा ? जोड़ा क्यों ? जान लो कि मैं...!

तब उसका मुँह लज्जा से गीला होता भर भाँपा था मैंने। आनन्दी ऐसी खड़ी है कि जब चाहे भाग कर अन्दर घुस जाय। फिर भी पत्थर की मूर्त्ति की भाँति

अचल है वह। साड़ी उसकी सिर से उतर कर नीचे आ गई है। और उसे याद नहीं कि उसकी एक पतली लट बालों की उड़ कर मुँह पर फैल गई है।

मैं समझाते हुये बोला—"आनन्दी, हमारे आफ़िस में छुट्टी नहीं हुआ करती। वहाँ के इन्सान के लिये होली कोई खास महत्व भी नहीं रखती। दिन भर खटर-खटर, खट-खट मशीनों के पास कपड़ों की लम्बी-लम्बी साड़ियों की हलकी-गहरी किनारियों पर मन ज़रा रुकता है। वहाँ एक भारी अँधेरा तब फैलता लगता है। जैसे मनुष्य केवल अकेला ही आया है। तब अकेले ही उसे झेलना पड़ेगा सब कुछ।"

आनन्दी कुछ न बोली। न बोलना था उसे। जैसे मेरी बात समझने लायक समय वह खो बैठी थी। समझने की चेष्टा भी न की उसने। इधर-उधर देख बोली—"आज तो रुकना ही पड़ेगा।...मेरा भी तो कुछ अधिकार है...!" कहते कहते आनन्दी ज़रा रुकी। अपनी गलती जैसे अब पकड़ी हो उसने।

अधिकार की बात तब मन से समझ लेने में बड़ी दिक्कत न पड़ी थी। आनन्दी ने कब अधिकार जमाया है किसी पर! पिछले दिनों उसकी बात से हटने में सामर्थ्य हारा हूँ। साथ ही आगे एक स्वप्न-सी जब से आनन्दी को जाना है, उसकी बात लिये चला हूँ। जब एक बार मन विछा, आनन्दी को आँखों में साथ-साथ कर लेने का वचन दिया था तब से आज तक कहीं रुका नहीं। कहा मैंने—"आनन्दी भाभी!"

पर आनन्दी कुछ बोली न थी।

आँखें उसकी भर आई थीं। यह मैंने भाँपा था। और आश्चर्य में पाया मैंने कि एक बार आनन्दी ज़िद पर तुली, बोली थी—"वाह! कोई ऐसे ही रहता है होली के दिन...।"

फिर दोपहर को तब आनन्दी रंग से सराबोर होने पर भी कहाँ चुप रह सकी थी। आनन्दी ज़रूर आँखों को तब बड़ी सुन्दर लगी थी। बरण्डा पार कर बाहर आई, मुझे देख कुछ झिझकी, फिर बोली वह—"देवर जी!"

आगे आनन्दी कुछ न कह सकी थी। आनन्दी के सामने अपने को असहाय भर पाया था मैंने। मस्तक झुका श्रद्धा से आनन्दी बहुत निकट आ गई थी तब। उस कोमल नारी के गुदगुदे स्पर्श को याद कर लेने में आज अधिक कुछ दिक्कत नहीं पड़ती।

दो दिन बाद मैं लखनऊ चला आया। पिछले दिनों बहन ने लिखा था—

'प्रिय दिनेश!

तुम्हारे चले जाने के बाद तुम्हारे पड़ोस के भाई साहब ने उस दिन तुमसे मन बहला, होली खेल लेने के लिये बहुत बुरा-भला कहा था। तब आनन्दी बोली न थी कुछ। एक अबोध शिशु की भाँति फूट-फूट कर रोई भर थी। तुम कब तक आओगे? लिखना।

तुम्हारी—प्रभा।'

पुनश्चः—एक चिट्ठी आनन्दी की भी साथ ही भेज रही हूँ। पढ़ कर फाड़ डालना अच्छा!'

और आनन्दी ने लिखा था—

'मुझे क्षमा करना! सच कभी मन में नहीं उतरता। केवल उदासी से भरा एक सपना भर पास में रह जाता है। चाहा था, शीला को तुम्हें सौंप दूँ। रोज़-रोज़ की ज़िन्दगी में उसे तुम्हारी पत्नी देख लेने को मन करता था। आज शीला के साथ याद कर रोना आता है। तुम्हारे भाई साहब के विषय में क्या कहूँ? वह पूरे बुद्धू हैं। ज़रा-ज़रा-सी बात पर लड़ते हैं। कहते हैं, मैं संन्यासी हो जाऊँगा। जब तुम आओगे, तो शेष सब बतलाऊँगी। बस,

तुम्हारी—आनन्दी।'

आज होली है। आनन्दी की याद सुबह से ही आ रही है। और शीला? वह तो एकदम निकट है। चाहता हूँ, वह दो पल के लिये हट जाये। पर शीला नीली साड़ी पहिने सामने ही झूमती-सी लगती है और कहती-सी—'जीजाजी! मैं...?'

एकाकी याद

उस रात को चमेली जब छत पर गई, तो उसने देखा—ओसारा खाली पड़ा था। उसकी भली-भली याद आई। जैसे वह हँस-खेल कर उसे बुझा रहा है कि ओ चमेली, मैं पराया हूँ। तुम्हें देख कर आँखों में कर लेता हूँ। जी नहीं भरता है। तुमसे घुल-मिल भी नहीं सकता हूँ। और तुम तो परिचित मूर्ति हो। तुम से कुछ छिपा नहीं पाता हूँ, फिर भी तो निकटत्व की छाया-सी मुझे बाँध रही है। आँखें दूर पर उलझ गईं, बड़ा-सा बड़ का वृक्ष उस सूनेपन में लहरा उठा। जैसे वह भी परदेशी के हठात् चले जाने पर कुछ कहना चाहता हो। जल की दूर तक फैली हुई लहरों में उसने उसे खोजना चाहा। पास के खँडहर में उसने उसके पाने की चेष्टा की। ऊपर देखा, काली अमावास्या की रात। नीचे देखा, ओसारा भायँ-भायँ कर रहा था।

अन्धकार फैल रहा था। उसके जी में आया कि एक बार वह नीचे उतर कर परदेशी का पता लगाये और बड़ के नीचे की तिल-तिल ज़मीन छान डाले।

उसने कई रोज़ तक उसे गच के पास वाली पत्थर की सीढ़ी पर एक दरी बिछा कर सोते हुये पढ़ा था। वह बहुत रात तक गर्मी के कारण पंखा झला करता, और फिर अपनी उलझी हुई भूलों को सुलझाते हुये कुछ धीरे से गुनगुना कर सो जाता। रात के उस सन्नाटे में गीत की ध्वनि चारों ओर फैल जाती। परदेशी उसे श्वासों में छिपाने का प्रयत्न करता। आकाश में बादल घिर आते। हवा के झोंके उन्हें उड़ा-उड़ा कर एक दूसरी ही दुनिया में ले जाते, तब परदेशी अपनी दरी समेट, सीढ़ी पर से उठ कर बड़ के वृक्ष के नीचे आ जाता। मानो उसके उदासी से भरे हुये गीतों का यही ध्येय हो। जैसे वह अब उसे किसी की बोली से धोना भर चाहता हो।

चमेली छत पर खड़ी थी। उसकी अभिलाषायें नीचे ओसारे में चक्कर काट रही थीं। बड़ी-बड़ी आँखों में परदेशी को समझाने के लिये उस अँधेरे में भी चमक आ गई थी। वह उसके समीप पहुँचना चाहती थी, पर न जाने क्यों, पहुँच न पाती थी। दिनों के बहाव में वह उसे तौलना चाहती थी कि याद आई—कभी-कभी बहुत रात

बीते वह आता था, तभी बातों ही बातों में वह कुछ जी की कर लेना चाहता था। जैसे मन की परतों में वह उतर कर सुझाना चाहता हो कि चमेली ज़रा यों ही देर हो गई। वैसे तो आ जाया करता हूँ! और मेरा कौन भरोसा!

चमेली कुछ झिझक गई। उसके सामने एक बार परदेशी की सरल हँसी में छिपी हुई भावनायें घूम गईं। उसका भरा-भरा भला चेहरा, पतले-पतले ओंठ और वह...। चमेली सोचने लगी, वह तो पथिक है...चलता ही रहेगा। जैसे यहाँ तक आया है, वैसे ही यहाँ से भी चलता बनेगा। कितना सरल है वह? उस दिन जब उसने उसे पहले-पहल देखा था, तो वह बड़ के नीचे रोटी ठोंक रहा था। दहकते हुये कोयले की लाल-लाल रोशनी में उसने उसे समझने की चेष्टा की थी। उसकी भरी-भरी आँखों ने उसे रुलाया था। परदेशी की रहस्यमयी आँखों ने उसके दिल में एक गुदगुदी की दुनिया बसा दी थी। लेकिन ठीक...वह अभी तक आया क्यों नहीं? वह कुछ भर-सी गई। उसके विचारों में किसी ने अपनी मुस्कान भर दी थी। उसके हृदय की उठती हुई मस्ती को कोई घेर कर बैठ गया था।

चमेली की सुकुमार शोखी ने अपनी दो-चार हसरतभरी पँखुरियाँ इधर-उधर फैला दी थीं, और वे पृथ्वी पर खोने से पहले अपने काल्पनिक देवता से मिल-भेंट कर कुछ कह-सुन जाना चाहती थी। वह बरबस बहुत आगे बढ़ गई थी। अपनी सारी यादों को बहुत पीछे छोड़ कर अपनी अधूरी स्मृतियों को सुला कर। उस रात को उसे बड़ी देर तक नींद न आई। उसकी अलसाई हुई आँखों में कोई मुस्करा कर कह रहा था कि चमेली! देखो, मैं परदेशी हूँ। मुझे भला-बुरा नहीं छू गया। मैंने भी प्यार करना सीखा है। मेरे दिल में भी एक भीगा हुआ कोना है, उसमें भी 'कुछ' है। और ओ चमेली, मैं कहाँ तक अपने को सिरजूँ। आख़िर मैं भी आदमी हूँ, बस! वह उससे छू गई। लगा, परदेशी है।

× × ×

चमेली अब काफी बड़ी है। उसकी खिली-खिली आँखों से भी उसका यह बड़ापन भाँपा जा सकता है। उसमें अब चंचलता नहीं है, और भी है उसमें 'कुछ'। पर वह उसे किसी को बताती नहीं, दिखाती नहीं। जैसे वह उसे छिपा कर दिल में रख लेना चाहती हो। जैसे वह उसे खोल कर एक अनबूझे पाप में रो-धो कर समा जाने को सोच जाती हो। पर फिर भी वह उसे सँवार नहीं पाती है। अपनी रीती इच्छाओं में उपजी हुई जल की लहर की भाँति स्वच्छ अनबूझ को वह लाख-लाख समेटने पर सिरज नहीं पाती।

दिन काम-काम में चला जाता।

दीदी के आदेश और खाना पकाने में वह उलझी-उलझी भी अपने को भूल नहीं पाती है। लगता है, जैसे यह सब कुछ बहुत पुराना हो चला है। और उसने १६ साल तक यही तो किया है। वह अपने में किसी की गीली-गीली सहानुभूति देखना चाहती है। उसकी 'चाह' है कि कोई उससे गीली लकड़ियों के न जलने पर भीगी आँखों को पोंछ कर कहे कि चमेली री, मत बना खाना। क्या जान थोड़े ही देनी है; बाज़ार से पूड़ी ला दूँगा...! और वह भरी-भरी-सी उठ कर चूल्हे में पानी डाल दे।

दिन बीतता, रात आती।

फिर वही काम!

और उससे निपट कर भी तो उसे सुख नहीं। अकेली है, सारा काम कर चुकने पर भी तो स्वतन्त्र नहीं है। उसके पड़ोस में चहल-पहल है। पर वह वहाँ नहीं जा सकती है। माँ ने कहा था—"चमेली, किशोर भला नहीं है। तू वहाँ मत जाया कर।" घर की महरी ने भी धीरे से बड़बड़ा कहा था—"चमेली को मत जाने दिया करो। अब काफी सयानी हो गई है।"

इन्हीं सारी बातों से उसका जीवन बना है। उसमें चैन नहीं, एक प्यास है, सुख नहीं, पर भूख है। वह इसे खूब समझती है। शाम को वह रोज़ छत पर जाती है। धूप ढल गई, सन्नाटा छा गया। यह तो अन्धकार भी चढ़ आया। पर वह उठी नहीं। खाना उसे बनाना नहीं था। दीदी ने खाने से इनकार कर दिया था। कमरे के अन्दर की खोली हुई धोती भी जल्दी में वैसी ही पड़ी थी।

आँगन में मैना टँगी रह गई।

और जब अध-काला बिलाव मीठा-बीठा समझ कर तेल का कटोरा लुढ़का गया, तब कहीं छत की मुँडेर पर बैठी, उत्सुक आँखें, किनारे के बड़ के पेड़ पर लगाये टिकी चमेली उठी। उस रात को सीढ़ियों पर से पैर फिसलते-फिसलते बचा। रास्ते में वह दीवार से टकरा गई और वह अन्दर से बाहर तक काँप गई।

आज चमेली ने बड़ी मुश्किल से चिराग़ जला पाया। माचिस की तीलियाँ बुझ-बुझ जाती थीं। और तभी उसने देखा कि उसकी धोती का छोर गीला था।

बहुत-बहुत-सी बातों ने रुलाया था।

उस रात उसे नींद न आई। रात उलझी-उलझी-सी चली गई। दूसरे सुबह उसने देखा, तो वही परदेशी कुछ भरा-भरा-सा अपनी सारी इच्छाओं को समेटे हुये चुपचाप मच के पासवाली सीढ़ी पर लेटा है, उसके भी मन है; कुछ सोची हुई बातें भी शायद हों, जिसमें वह कल्पना की डोरी से बँधा-बँधा भी मुक्त है! उस 'एक' में

वह सीमित रहेगी कैसे। वह तो विश्व का सूखा आकार है न! और वह? उसने सूनापन झेला है—समझा है! पर उसकी छटपटाहट कहीं दूर की लकीर-सी तो नहीं है, जो बहुत जल्दी ही अपना मैला रूप छोड़ कर मिटती-मिटती मिट गई। इसीलिये तो कहीं वह भूली सी नहीं हो रही है।

उभरी हुई मुस्कान को दबाते हुये उसका पहला सवाल रहता है—"आज खिचड़ी बनी है...क्या कोई अचार या खटाई है आपके यहाँ?"

और यही तो सवाल है, जिसे सुन कर वह अघाती नहीं, भरती नहीं, थकती भी नहीं। जिसका जवाब देने के लिये उसका मुँह बन्द हो जाता है! जिसको सुन कर वह चाहती है कि कोई उससे कुछ न पूछे। उसकी उपजी हुई माँग से वह काँप उठती है। वह 'माँग' कुछ लेने के बाद दे भी जाती है। पर उसका मन जैसे कह उठता हो, तुम तो परदेशी हो, तुम्हारे लिये मैं क्या करूँ? जैसे वह चुपचाप उसे देहरी पर खड़ा देख कर कुछ बहकाना चाहती हो। कोई कह जाता है कि ओ परदेशी, बैठ जाओ न, इतनी जल्दी काहे की? मैं अकेली हूँ। कभी-कभी घूम जाया करो, अच्छा! यह सूनापन क्या ऐसे ही रहेगा और मैं क्या अकेली ही रहूँगी, बिलकुल ऐसे ही...?

उसकी आत्मा में गंगाजी का भरोसा है। उसका उत्तर काली रात बन कर उसके मन के आँगन में उतर चुका है कि जो वह करेगी...वही होगा।

और वह अपने को सिरज कर लौट नहीं जाता है। वह वहीं खड़ा है। आज उसे उसकी इच्छाओं को निगलने में सुख मिल रहा है। उसे भी कुछ हो गया है। वह भी चमेली को पढ़ने की चिन्ता में है। उसे सुख है कि उसका मन आज किसी सोई बात को ले कर उसके सामने अपने आँचल का छोर हटा मुस्करा रहा है; वह सिर का पल्ला सँभाले, उसकी सारी बातों का उत्तर देने की बाट में है। उसका एक दूसरा भी मन है, जो छत पर उसे हँसते-खेलते देख कर मचल उठता है, जो उसकी सारी बातों को लिख लेना भर चाहता है और जिसका भारीपन उसकी सरल उलझनों के सामने अपना सिर झुका लेता है। उसे याद है कि अभी उसी दिन तो उसका हाथ अचार लेते हुये हिल गया था। उस दिन वह बड़ी मुश्किल से अपने को सैंत सका था। और यह उसका मन ही तो है, जो आज कुछ सनक गया है।

यह मन किसी की रचना नहीं करता है। वह उसे ठुकरावे कैसे? वह उस सुख में कैसे सुखी रह सकेगा?

थोड़ी देर तक वह चुप रहा, फिर बोला—"चमेली! यह भागा-भूगी कब तक? मैं भी अकेला हूँ। किसी की भोली-भाली छाया को पहिचानना चाहता हूँ। उसी में

मिल कर मैं सुखी हो सकूँगा। मैं कुछ भूल जाऊँगा, मेरी सारी प्यास उसी में रम जायगी। तुम्हारा भी कोई नहीं है। इस अलसाये हुये भारीपन को ले कर क्या करोगी ? तुम रह भी नहीं सकोगी। और अपनी ओर तो देखो, क्या सदा 'एक' में कसी रहोगी, बँधी रहोगी। यह दिन भी चले जायँगे।

"मकान छोड़ने को मैं नहीं कहता। लेकिन तुम यहाँ रहोगी कैसे ? तुम मेरे घर चलना। रोटी बनाना, चैन से रहना। उम्र के तीस साल ऐसे बुरे-बुरे बीत जाने पर आज यह जी चाहता है कि किसी के दर्द में अपना खून जम जाने दूँ। पत्थर की भाँति जम जाने दूँ। उसमें फिर से मिल कर घुल जाऊँ!" वह फिर बोला—"अपनी सारी उम्मीदें चमेली, तुम्हारी आँखों की तेज़ी के सामने बिछा दूँ और इसी तरह गलता-गलता गल जाऊँ। और मुझे यह मिले कि मैं परदेशी था। पराये के पीछे जलता-जलता जल गया। आज न जाने क्या मुझे हो गया है! उसमें तुम्हारी ही ऊब तो नहीं भरी है ! मैं दिल के अँधेरे में तुमसे कुछ कह-सुन कर हलका भर होना चाहता हूँ; कई दिनों की दबी हुई बातें तुम से चुपके से कह डालने का चित्त होता है। चमेली, चमेली, ओ चमेली ! तुम्हें मेरी कसम है, तुम मुझे नहीं समझ सकी हो। 'हाँ' भर, कह दो। सच, मेरे मन में तुम्हारे लिये कोई बिगाड़ नहीं है।"

और चमेली ने सोचा !

उसके उस उत्तर में न जाने क्या हो गया था, उसने धीरे-से अपना सिर घुमा दिया था। जैसे किसी गहरी खुशी के बोझ को उसका सिर अब अधिक देर तक न उठा सकेगा। आख़िर उसने सारा सामान बाँधा-बूँधा, पर ठीक समय पर वह न आया।

दिन निकला, ऊपर चढ़ा, और दीवालों के उस पार भी जा पहुँचा। चारपाई पर दरी में लिपटी हुई चीजें धरी थीं। अन्दर का सामान उलथा-पुलथा पड़ा था।

पर वह न आया !

चमेली ने उसकी प्रतीक्षा में आँखें बिछा दीं। मन खोल दिया। रात आ गई, पर वह आया नहीं। उस रात को चमेली नींद भर सोई नहीं। दीदी के पूछने पर भी वह रोती ही रही।

द्वार पर आ कर 'बाबा' शाम की भीख माँग रहा था। वह भागी-भागी बाहर आई, देखा, तो परदेशी झोली लिये खड़ा था।

वह काँप गई। फिर बोली—"बाबा ! मेरी मुराद ?"

"लेकिन, मैं तो परदेशी हूँ परदेशी, चमेली।"

"परदेशी ! तुम बड़े अनजान हो ! सारा सामान ठीक कर लिया है। अब कब... आख़िर तुम हो कौन ?"

"लेकिन मैं कह जो रहा हूँ कि मैं परदेशी हूँ !"

"हाँ ! तुम परदेशी हो; यह ठीक ही है। लेकिन तुम जा रहे हो। आज आये हो कुछ आराम कर लो। और मैं क्या ऐसी ही रहूँगी ?"

"पर, चमेली ! मुझे बहुत दूर जाना है। मैं अब तुम्हारी छाया सँभाल नहीं सकूँगा। सच, मुझे धोखा न दो। मैं तुम्हारा बोझ न उठा सकूँगा। वह भारी है, और मैं कमज़ोर हूँ।"

"तो क्या तुमने मुझसे नहीं कहा था कि घर चलना।"

"हाँ, कहा था, पर अभी उसका समय नहीं आया है, चमेली ! अवसर आने पर मैं खुद आ जाऊँगा ! चमेली, चमेली ! मुझे क्षमा करना !"

"तो कब ?"

"ठीक चौथे साल।"

परदेशी चला गया। चमेली मूर्त्ति-सी खड़ी देखती रही। जैसे वह कुछ समझ गई हो—नारीत्व की विभुता का एक सिरा-सा।

शाम को उसी पोखरे की गच पर कभी-कभी चमेली जा कर सोचने लगती है कि वह परदेशी है, पर उसकी भूरी-भूरी आँखें, हँसता हुआ चेहरा...और क्या सच ही वह फिर आयेगा। उसका हृदय घूम जाता है। जब रात का अँधेरा चारों ओर फैल काँप उठता है, तब वह चुपके से उठ कर उसी बड़ के नीचे आ जाती है। यही उसका नियम है। सारी लालसाओं को सँवारे चमेली समय के निगलने की चेष्टा करती है। बहुधा वह अपने को भी भारी लगती है। मानो उसके प्राणों में प्रलय हो रहा हो। बहुत दिनों तक वह ऐसी ही रही। सुखी रही या दुखी, कौन जाने ?

वह फिर आया या नहीं यह नहीं कहा जा सकता। आज भी उसके दिल में घुसी हुई है 'एकाकी याद !'

त्याग-पत्र

अब प्रमिला सोचती है कि प्रशान्त में उसका मन ज़रूर है। एक सांसारिक दायरे में घिरी हुई वह प्रशान्त युवक को कैसे सहे? अपनी गुत्थी वह बनाये और बिगाड़े भी, पर प्रशान्त को उसमें वह क्यों घसीटे। कभी-कभी मन में वह ऊब भी जाती है। प्रशान्त का एक घिरा हुआ अपना मन है। वह मन किसी को छूता नहीं है, और उलझनों ही उलझनों में पास से रूठ भर जाता है। वह इसे अपनी ग़लती मान तनिक ठहर जाना चाहती है। पर रुक नहीं पाती। रुक कर अपने उत्तरदायित्व को कैसे निभा सकेगी।

प्रमिला उसकी भाभी है। वह नारीत्व में छिपी प्रमिला इस पुरुष प्रशान्त के जी से सट चुकी है। बातों-बातों में उसे लगा है कि वह पराई नहीं रह गई है। आफ़िस से छुट, बाइसिकिल पर बैठ जब प्रशान्त शाम को घर चल देता है, तब दिन भर की मरी-कटी प्रमिला शाम की ओट में आ, सब काम छोड़, ज़रा मुँह-हाथ धो, अपने को पा, दरवाज़े पर टिक जाती है। और प्रशान्त की गहराई, उसका भार कि वह उसे कहाँ तक देखे ..आँखें भरतीं नहीं। एक रेखा-सी, मूक हँसी में सीमित प्रशान्त...वह उससे अलग होने की बात पर रुके कैसे?

भाभी की मूक नम्रता में खो उसने कहा था—"प्रमिला, मैं तुम से अपनत्व पाता हूँ। देखो, मुझे अपनी नाराज़गी में मत लेना, अच्छा!"

और प्रमिला ने चाहा कि उस खड़े हुये युवक से कहे कि प्रशान्त, मेरा जी मेरे पास नहीं है। जो है भी, वह तुम्हारा है; और जो तुम्हारा नहीं है, वह है भी नहीं, सच! फिर ऊपरी मन से तुम्हें अलग क्यों करूँ? स्वामी का तो एक नाम भर है और अब जैसे उसने कोई बात पकड़ ली हो। धीरे से बोली थी—"प्रशान्त!"

और प्रशान्त ने जाते हुये सुना प्रमिला बुला रही है। उस सुख को वह कहाँ छिपा कर रख ले। जो कुछ है, वह प्रमिला है, और प्रमिला से बाहर जो है, वह उसका है भी नहीं। विचारों में कुछ बढ़ा, तो प्रमिला आती-सी लगी। गुलाबी ज़री की सारी में लिपटी हुई। प्रमिला को वह क्या कह दे? और प्रमिला ने जैसे कुछ कहा ही नहीं, और न सुना ही कि चाय की तश्तरी पर हाथ रुका। प्रमिला

अपने साथ 'सेट' लाई है। और उसने हाथ का अख़बार रख उठती हुई भाप में देखा कि प्रमिला भाभी की हँसी में वह दब गया है। उस नई भाभी की चूक को वह नापे कैसे? चाय वह पिये; पर भाभी को क्यों कष्ट लगे, उस कष्ट को वह संज्ञा भी क्या दे। जो संज्ञा उसने दी है, वह उसकी है नहीं, और संज्ञा से हीन वह उसे क्या माने? उसे भाँप प्रमिला ने साड़ी से मुँह निकाल ज़रा झिझक, रूठ, हँस कर कहा—"तुम्हारी बात मुझे लगती है। साथ ही मैंने जाना है कि भाभी का दरजा निभाना एक ज़रूरत है।"

और प्रशान्त से वह चाय नहीं पी गई। प्रमिला कुछ और आगे बढ़ी थी और तभी जैसे उसे समीप पा, चाय का प्याला उठा, कुछ भावुक हो, उसने प्रमिला के ओंठों से लगा दिया। उसकी भाभी प्रमिला कुछ डरी नहीं, झिझकी भी नहीं। हाँ, ज़रा अपनी सत्ता से ऊब थोड़ा-सा हँस, धीरे से उसे गले के नीचे मुँह बिचका कर उतार भर गई।

और उसने फिर सुना—'प्रशान्त!' वह उसका क्या उत्तर दे। उस छोटे से नाम का यह बड़ा-सा युवक जवाब भी क्या दे? नाम उसका छोटा ज़रूर है, पर उस छोटे से नाम में भराव अधिक है।

प्रशान्त सोचता है—'प्रमिला में केवल भाभीपन ही नहीं है, बल्कि उससे आगे भी कुछ है।' जैसे उसका मन कहना चाहता हो कि प्रमिला, मैं क्या उत्तर दूँ। नाम मेरा ज़रूर है, पर मैं नाम का खरा नहीं हूँ। तुम्हारी दुनिया में क्या ऐसा ही होता है? प्रशान्त बोले क्या? वह बेबस है। और क्या प्रमिला नारी इस खोटेपन को पढ़ नहीं पाती है? भाभी सामने खड़ी थी। आँखें अपनी हार माने क्यों?

प्रमिला सोचती रही। उसने उसे पुकारा; प्रशान्त कुछ रुका भी। फिर भी बेबोल कुछ झिझका क्यों? यह रुकी-रुकी उसे सुहाती नहीं है। वह बुलाये और प्रशान्त रुके नहीं। यह क्या प्रमिला इसे अपने में ले सकेगी? उस छोटे-से काल में प्रशान्त को लगा था, मानो वह भाभी इसे दूर न कर सारा सुख बाँट ज़िन्दगी में निभ सकेगी। बात बदलने के विचार से वह बोली थी—"कल ज़रा आफ़िस से जल्द आना...।"

जल्द आना, यह जैसे प्रशान्त से बाहर की बात है। काम वह करे, उसमें डूबे भी। फिर प्रमिला को वह अपना दुःख क्यों दे? आफिसर का मन कठिन है। और अब प्रशान्त को खड़े हुये लगा, जैसे उसका भार पूरा नहीं उतरा है। मन की सिसक को वह छिपाये क्यों, जैसे वह युवक खुल कर इस सुन्दर नारी में मिल जाना चाहता

हो। और प्रमिला ने आगे कहा था—"तुम्हारी दावत है, अच्छा! चार बजे शाम को देखो, चूकना मत।"

दावत की बात वह सुने, प्रमिला उसे पास लाये, और वह क्यों उसे पृथक-पृथक रखे? वह भाभी की व्यस्तता में कुछ सुधार लाना चाहता है। कुछ रुका तो मन कहने-सा लगा कि भाभी, इतनी जल्दी क्यों, और तुम्हें यह नहीं लगा कि मैं तुम्हारा हूँ। कभी आ कर चाय के सहारे तुम्हें छू लेता...पर...तुम...! फिर भी प्रशान्त पहले ही आ पहुँचा था। देखा, तो प्रमिला कुछ सुघरी-सी सामने मेज़ पर झुकी मिली।

प्रमिला का अपना काम है। एक बँधा हुआ नियम उसे लग गया है। और यह प्रमिला-नारी उसे साध, टोस्टों के बंडल खोल आज व्यथा से अधिक भर गई है। लज्जा करना उसे आता नहीं, और प्रशान्त के आगे वह छिपे क्यों? सामने प्रशान्त को देख वह चौंकी थी और एक हलकी साफ़ नमस्ते में व्यावहारिक हार-जीत का प्रश्न हटा हुआ उसे मिला था, कि वह युवक उसके और भी पास आता जा रहा है।

और यदि ज़िन्दगी यहीं पर रुक एक चाय का घूँट बन समाप्त हो सकती...। जैसे उसे गले से उतार भाप में भीग कर ही सारे कर्त्तव्य को निभाना होता है, जैसे उसका सम्बन्ध केवल बाहर ही का रहा हो। प्रशान्त अब केवल गैर-जिम्मेदार आदमी ही रह गया है। वह है, और उससे भी दूर निर्मला।

निर्मला? ज़िन्दगी कुछ रुकती-सी लगती है। आज से चार साल पहले प्रमिला ने इसी का नाम लिया था। याद कुछ उभर-उभर आती है।

आफिस से आ अपना सूट उतार, ज़रा सुस्ता जब वह अपने कमरे में बैठा था, तो भाभी दूर से हँस, अपने में मचल, पास आई। आँखों में आँख टिकी रह गई। एक कुरसी खींच प्रमिला बोली—"आज आफिस से कैसे जल्दी आ गये? निर्मला आई थी, और तुमने तो उसे देखा ही होगा। बड़ी भली लड़की है...!"

और परसों निर्मला अपनी माँ के साथ घर आई थी। तब उसने यह जाना था कि वह उसे अच्छी ज़रूर लगी थी। कल आफिस में उसकी याद आई, तो जी देखने-देखने को करने लगा। जरनल और लेजर के बड़े-बड़े रजिस्टरों पर आँखें रुकीं ...ज़रा और रुकीं, तो पढ़ा 'निर्मला, निर्मला!' वह घबरा गया। घड़ी ने अपनी टन-टन में सुनाया 'निर्मला! निर्मला!' और अब प्रशान्त जैसे अधिक सकेगा। उठा और बाइसिकिल पकड़ कर घर पहुँचा। जहाँ पर निर्मला बैठी थी ध्यान से देखा—जैसे वह भोली निर्मला अपना रेखा-चित्र छोड़ गई हो।

आज प्रशान्त को बहुत ऊब है। जी में एक अभाव का स्थान बन जिसमें निर्मला नाम की एक नारी अपना अस्तित्व छोड़ कुछ सुना गई है

चाहा कि भाभी से कुछ बोले, पर बातों में अटक न सका। चुपचाप कुरसी पर बैठ, अख़बार खोल उसमें खो गया। दूर से भाभी की छाया बड़ी सफ़ेद-सफ़ेद, नीली-नीली और वह निर्मला की मलिन हँसी में रूठ, हँस, खेल कर कुछ ऊपर उठी। तभी प्रशान्त को लगा, जैसे भाभी उसे समझ न पायेगी, और वह एक मूक व्यस्तता में ऐसा ही लगा रहेगा। इतने में निर्मला हाथ में गँडेरी की तश्तरी ले पास आई। उसे मेज़ पर जमाते बोली—"कुछ खाइयेगा ?"

बात कुछ उलझी-सी लगी। प्रशान्त अपने से बाहर रहा। कुछ बोला नहीं। सोचा—'प्रमिला भी कैसी भली है और यह निर्मला। बहुत सोच विचार कर बोलती है। खाये वह, पर इस प्रमिला का जी क्यों दुखे। पर निर्मला नहीं, प्रमिला, प्रमिला,...वह जी से हठ करे, पर प्रमिला को कैसे हटाये ?' जैसे गँड़ेरियों के टुकड़ों में उसने सब कुछ पा लिया हो। उठ कर जेब में भर लीं।

पास बैठी हुई प्रमिला ने सोचा, गँड़ेरियाँ वह बनाये, उसे सजाये भी, पर यह प्रशान्त उन्हें न खा, जेब में क्यों भरे ? गँड़ेरियाँ बनाते-बनाते अँगुली जहाँ कट गई, वह कुछ दुःखा-दुःखा और उससे तिलमिला कर वह बोली—"सामने खाने में कुछ बुरा है ?"

प्रशान्त उसे कैसे समझावे। मन के सुझावों में उसे रख ले, यह वह भी चाहता है। जैसे मन कहने-सा लगा कि प्रमिला सामने की बात मुझे लगती नहीं है, जी टूट रहा है, इसी से तुम्हें बाहर पा चुप हूँ। फिर निर्मला की बात सामने आई—साफ़-साफ़ सच-सच। पर दबा, एक गँड़ेरी निकाल मुँह में रख वह चुप रहा।

आज वह सोचता है, निर्मला उसके घर आई, बैठी भी और कुछ दे भी गई। उसकी देन वह रखे कहाँ ? पर प्रशान्त ने उसे देखा नहीं। यह सत्य वह कैसे सहे ? प्रमिला की आँखों से पढ़ा जैसे उसने उसे समझ लिया हो।

एक धुँधली पहेली सामने आई।...यदि निर्मला जीवन में निभ सकती...। कुछ सोच उसने धीरे से कहा था—"हाँ, देखा तो है !"

और प्रमिला कट गई।

बात बढ़ाई नहीं। वह लाज में छिपी रही। ज़रा बीमार हुआ, तो निर्मला फिर आई। आरामकुरसी खींच बैठी, तो प्रमिला ने प्रशान्त की बीमारी का हाल सुनाया। उसका एक रूप आगे आया। प्रशान्त कहने-सा लगा—'निर्मला, निर्मला !' और निर्मला ने दूर देखा, प्रशान्त लेटा है; चुपचाप बेबसी में गड़ा। और अब निर्मला अपने को क्या करे ? धीरे से प्रमिला को ले प्रशान्त के कमरे में आई।

इस युवक प्रशान्त में आज निर्मला का जी जम गया है। जी उसका है, पर

जमाव पर उसका लगाव नहीं है । पास लेटे हुये युवक प्रशान्त की भावनाओं का कुछ दूर खाका-सा बना, फिर मिटा भी । जैसे प्रमिला की ओट में वह उसे छू चुकी हो ।

और प्रशान्त उसे पा कुछ चौंका, दीवार पर टँगे हुये चित्र पर आँखें टिकीं । निर्मला आती-सी लगी । हमारी गृहस्थी भी एक चित्र की भाँति है । उसने सोचा, हम बोलते हैं, हँसते भी हैं, और फिर अपना अस्तित्व खो कर जल की लहर की भाँति कुछ दूर-दूर आ मिल, रह जाते हैं । और सोचा, निर्मला ने दूर का सहारा पकड़ा है । और प्रमिला नहीं, निर्मला...दोनों में वह किससे मनचुकाव करे ? निर्मला बड़ी भोली है, सिर्फ चुप खड़ी रहती है । आज भी बैठी है...कि प्रमिला ने दवाई का समय जान हाथ बढ़ाया, उसे निर्मला को दे बोली—"तुम दवाई दो, मैं आती हूँ..."

और निर्मला का सारा उत्साह टूट गया । कभी उसे पा भाभी की ओट ले प्रशान्त ने कहा था—"ज़िन्दगी में बदलना पुण्य है और एक-सा रहना पाप !" कह कुछ नहीं सकी । दवाई का फैसला खुद कर, समीप पहुँची, ज़रा सकुचा, लजा, झुक, हँस कर दवाई का गिलास मुँह से सटाया ।

एक उज्ज्वल नारी की कोमलता, निर्मला की कोमलता क्या वह इसी भाँति रहेगी । सामने निर्मला का साकार चित्र देख वह बहक गया । झुकाव का सहारा ले एक सधी हुई उलझन में उसकी आँख उस पर टिकी रह गई । दवा वह पिये, पर निर्मला को कष्ट-रोग क्यों जँचे । दूर पर निर्मला कहती-सी लगी—प्रशान्त, तुम यहीं रहना; रहना और ऊबना मत ! नारी के साथ एक शादी में आ, अपने आप को गला देना, अच्छा ! यही मेरी बात है, अपने से बाहर की पाओगे । कि नारी कला की एक चीज़ है, मुझ से मिलान मत करना । दुःख-पीड़ा, वेदना में साथ-साथ ही बँट सकेगी । और प्रमिला ? कि प्रशान्त ने ज़रा सत्ता से हट दवा गले के नीचे उतार दी । उसके घूँट से शब्द उठा—'निर्मला, निर्मला !'

दूसरे दिन वह कुछ स्वस्थ हो आया । फिर निर्मला दूर की न रही । उस पास आती नारी को वह पढ़ता गया । उसमें कोई बुरी भावना न देख उसने सोचा कि निर्मला भली ही नहीं है, बल्कि उससे भी आगे वह बढ़ गई है । ज़रा कुछ और सजग हुआ, तो वह प्रमिला भाभी के साथ फिर मिली । वह मिली और मीना भी ।

और मीना...?

मीना उसको बड़ी भली लगती है । जैसे वह अच्छी बिल्ली मन कुछ समझ कर भी चुप रहना चाहती है । जानता वह है, पर उसकी समझ के आगे प्रशान्त थक

गया है। वह प्रशान्त युवक को खूब समझती है। अपनी बेबोल भाषा में जैसे कहना चाहती हो 'कि मैं बेबोल हूँ, इसी से सब-कुछ मत लगाना ? निर्मला दीदी की हूँ, तुम्हारी भी हूँ...' और प्रशान्त मानो यह सब समझ लेता है; मानो उसे घुला... अपना दुलार वह बाँटे...और ? कि वह छोटी-सी बिल्ली में मीना घरी भर दौड़ कर प्रशान्त के पैरों पर दुम रख लोट जाती है।

ज़रा निर्मला और बढ़ी, तो मीना ने शिष्टाचार में आ, दौड़ पैर चाटे और प्रशान्त ने जैसे सब कुछ पा लिया हो। धीरे से हाथ फेर पुचकार कर उसे उठाया। उस दिन उसे न जाने कहाँ एक पराया मन मीना में मिला। ज़रा और उठाया, तो प्रमिला ने सुनाया कि निर्मला आई है, साथ में शेक्सपियर की 'ट्वेल्थ नाइट' भी समझने लाई है।

प्रशान्त ने मीना की ओर देखते हुये कहा—"जा, अपनी निर्मला दीदी के पास जायगी..."

और जैसे मीना ने म्याऊँ कर पूछना चाहा कि जाऊँ, सच, यह तुम कहते हो। कि सामने से निर्मला को आती देख वह एक कुरसी खींच बोला—"आज कैसे भूल पड़ीं इधर ?"

और निर्मला जैसे भर गई हो, चुपचाप रही। फिर पढ़ाई की बातें जमीं, और निर्मला जैसे यह सब सुनना नहीं चाहती थी। प्रशान्त मीना को थपथपाते हुये कहता गया—"शेक्सपियर अंग्रेज़ी-साहित्य में बड़ा भारी कलाकार हो चुका है। उसकी कला ने विश्व को परखा है...और...और..."

जब चली तो मीना को आवाज़ दी, पर वह न उठी। चुपचाप प्रशान्त की गोद में बैठ रही। हाँ, देखा ज़रूर जाती हुई निर्मला को...और प्रशान्त ने कहना चालू रखा—"शेक्सपियर ने नारी-हृदय परखा था। उसे अपने में ला तौला था। इसी से उसकी 'ट्वेल्थ नाइट' में एक मूक-युग की नारी की, कोमल-नारी की चाहना-भरी है। 'नारी-हृदय...' वह रुका कि निर्मला ने पुकारा—"मीना !"

और प्रशान्त ने मीना को ज़ोर से चिपकाते हुये कहा—"किसी को प्यार करना सरल है, पर भूलना मुश्किल। शेक्सपियर ने एक बार कहा था—पुरुष चाहता है कि वह एक बड़ा हिस्सा अपनी ज़िन्दगी का दे, पर सफल हो नहीं पाता है। लोग इसे जान कुत्ता पालते हैं, ज़रा भूल वेदना को हटा बिल्ली को भी...कि बात कट गई।

"मीना, मीना !" आवाज़ फिर आई।

और अब जैसे मीना रुक न सकेगी। 'म्याऊँ' कर गर्दन उठाई, उसे रोक वह कहता रहा—"अपनी प्रिय वस्तु से अपने को हटाना एक अखरने को बात है। हम कुछ रखते हैं, पर उसके चले जाने पर दुख ही करते हैं...!"

कि दूर पर निर्मला हँसी ज़रा सजग। एक छाया-सी वह पास आ बोली—"अच्छा, अब चलती हूँ, माफ़ करना।"

निर्मला पूछती है, वह रोके क्यों? जाना उसे है ही। वह जायगी भी। फिर वह क्यों उससे कुछ कहे। जैसे वह कहना चाहती हो कि सच, जाऊँ; तुम कहते हो जाऊँ। और मीना वह विवशता जान, बोल पड़ी 'म्याऊँ।' वह जैसे कहने लगी—अभी बैठो, तुम जाओ क्यों, निर्मला दीदी... मैं भी तो चलूँगी... प्रशान्त ने सोचा, क्या यह निर्मला नारी सच जाना चाहती है? फिर मुझसे पूछने क्यों आई है?

आज आफ़िस में काम करते-करते प्रशान्त को लगा—निर्मला का शादी ठीक हो गई है। वह शादी में बँध कर रहना नहीं चाहती है... और अब तो वह बीमार है... पीला-पीला मुँह। वह दूर कहती-सी लगी... प्रशान्त, प्रशान्त!

वह काँप उठा।

घर पहुँचा, तो प्रमिला ने सुनाया—"दूर के रिश्ते से निर्मला मेरी बहिन लगती है.. इसीलिये मैं ने पूछा था। बड़ी इच्छा थी कि तुम्हें उसे सौंप सकूँ... पर परसों उसकी शादी ठीक हो चुकी है।"

'शादी ठीक हो चुकी है।' प्रशान्त रुका। दूर पर निर्मला की हँसी सुन वह चौंका। वह कहती-सी लगी... 'प्रशान्त, मैं छोटी हूँ, और तुम बड़े। इतने बड़े कि सोच कर भय लगता है। समाज में भी, उम्र में भी... तुम यहीं रहना। विदा!'

कोई एक महीना हुआ, तब निर्मला की चिट्ठी आई, लिखा था—

'प्रिय प्रशान्त,

...ज़िन्दगी एक रहस्य है। डरती हूँ कि क्या लिखूँ और क्या न लिखूँ! तुम्हें न पा इस ज़िन्दगी का असली रूप और भी चमक उठा है। मुझे थाइसिस हो गया है। डॉक्टरों ने बताया है कि किसी सिनेटोरियम में ले जाओ। इस महीने में यदि आ सको, तो चले आना। तुम्हें देखने को जी कर रहा है, अच्छा, शेष कृपा।

तुम्हारी—

निर्मला।'

साफ आकाश में खिली हुई चाँदनी को देख प्रशान्त का मन एक अज्ञात पीड़ा से भीग जाता है कि वह चाँदनी हँस-बिखर कर निर्मला का रूप ले लेती है। वह कहती-सी लगती, प्रशान्त मेरी भावनायें मत बूझो। मैं पराई हूँ...और यह परायापन का बन्धन मुझे तुम तक नहीं आने देता है?...कि वह छाया, रूपी निर्मला दूर हो, उसे छू, पुलक कर हट प्रमिला में खो, उसमें समा भर जाता है।

और अब प्रशान्त कैसे रुके!

प्रमिला, नहीं निर्मला, निर्मला! जैसे वह चाँदनी कह उठती हो—निर्मला, ओ निर्मला! और वह चारपाई से भाभी प्रमिला में पहुँच, उसे पहचान, देख सिसक-कर रो देता है।

जीवन का रहस्य

'वसन्त !' छाया अपने में गुनगुनाई। कुछ भार कहीं हलका लगा। जैसे अवज्ञा-मात्र वह कर रही हो, झूठी खैरख़्वाही में डूबी आँखें बिखरतीं, सरसता उँडेल अपने में खो वहीं रहतीं—उलझी उलझी, काली-काली सोई भर। अन्दर एक धुँधला चित्र। ज़रा साफ़ क़ायदे से लगा, वह चित्र हँसता, मुस्कराता लगता, कहता—'छाया ! मैं हूँ, मैं हूँ।' और बाहर कुछ अलग अलग एक धोखा, बड़ा-सा हल्ला। दुनिया की समझदारी में हलका पड़ता। पीड़ा बाँट, खो कहीं चुप ही होता दूर-दूर एक भ्रम ! ज़िन्दगी फीकी कहाँ थी; हाँ, उचाट-उचाट जी में था, कुछ कमी, अभाव से खेल। वहीं गुबार...मनुष्य के बनाये क़ानून...कोर्ट के फैसले की तरह धीरे-धीरे फैलते, ज़हर उँडेल आगे आते, समाज के दायरे में सिखाते—

चुप, चुप, चुप !

बात अपने में न आती। कुछ कहीं पर छू अलग ही हो रह जाती, दूर-दूर; कहती-कहती।

झूठ, झूठ, झूठ !

झूठ ! अब छाया चौंकी। अपने को पकड़ चाहा कि खूब समझ ले। उत्तर-दायित्व की याद आई। उठी, किताब ले स्वामी के निकट पहुँची। समय काटने लायक़ थी वह किताब। मन-बहलाव वह किये जा रही थी कहाँ ? और चारपाई पर लेटे स्वामी ने देखा—एक बुझी-उलझी, हलकी नारी। लाल साड़ी सफेद-सफेद बिन्दियों में लगी। हाथों में हरी चूड़ियाँ—बीच में लाल और आगे फिर हरी, गोल-गोल किताब के ऊपर सधी, रुकी। सब, सब। खूब इठलाती लगी। फिर धीरे से छाया ने मरी-मरी कहा—"मन नहीं लगता।"

मन ?

स्वामी चौंका। दिमाग़ भर गया। वहाँ रेल की निपट खटर-खटर पाई उसने। बाहर दूर-दूर हरे खेत। उनसे लगे गाँव। वह लाल धोती, पहिने, ज़रा नन्ही लड़की सिर पर पीतल की कलसी, और सामने टेढ़ी-मेढ़ी, साफ़-साफ़ भागती पगडंडी। उसी पर आगे बढ़ती, फिर—

खटर-खटर।

हरे खेतों के उस पार वह घूमती चलती। गाड़ी आगे बढ़ती। अन्दर डिब्बे की दीवार में छोटे-छोटे छेद। उन्हीं में क़ायदे से लगाई चिट्ठियाँ, रजिस्ट्री, बीमा, सब-सब। सुझाते, एक उचाट। उसी में लगा एक हल्ला। उचाट और हल्ले के बीच एक हँसी, परेशानी के पास-पास। क्लर्की-जीवन में बँधी ड्यूटी। वहाँ छाया हलकी लगी। बात पकड़ कहा—"घर जाओगी ?"

छाया शिथिल हो खुल गई। चाहा, कुछ कहे। मैल धो उसी में रह जाय। वह चुप रही, फिर बोली—"और आप ?"

अपनाव की बात उलझी। फिकर-फिकर में किसी को समझाती वह आगे आई है। और मन में काली-काली वह बनकटी कहाँ है। एक पत्थर-सी जमी वह वहीं पर है। ज़िन्दगी का भखौल उड़ा अपने को परख, पसार जो चारों ओर उड़ी, तो फिकर हो तो यह है। ख़ूब समझा-बुझा एक अभाव चला। क़िस्मत का फ़ैसला लेता। तीन दिन पहले। वह नीले सूट की सफेद धारियाँ...मन से खेलतीं एक उलझी अवहेलना बिखेर वहीं रहतीं लम्बी-लम्बी। जैसे मन-बुझाव का मोह हो। कुछ कहीं खेल न था, जो समझ लेती। उनके बीच बसन्त...! उसकी पीड़ा, घाव-दुःख और आँसू कुछ लोग उसे उठा कर घर ले आये थे। अपना कर्त्तव्य निभा वह ठीक जँची थी। जब सन्नाटा आया, तो वह बोला था—"छाया, ज़रा पट्टी ढीली कर दो, बड़ा दर्द है।"

और छाया ने पट्टी खोली, ढीली कर एक गाँठ दे बोली—"बस !"

बसन्त कुछ न बोला था।

सामने तत्परता में पसरी छाया। नीली साड़ी ख़ूब सजी। बालों में हरा फीता। कमरे में ठीक एक पहाड़ी लड़की-सी लगती। ख़ूब देख बोला—"ज़रा बोतल दे दो, बड़ा गहरा घाव है।"

मन में सन्नाटा, वहाँ बन्दूकों की धायँ-धायँ। दूर-दूर रेत पर छिपे झुण्ड...फिर धायँ !

वे आगे बढ़ते लाल-लाल साफ़ों में और—

धायँ ! धायँ !!

पास में धुआँ उड़ता—सफेद-सफेद। ऊँचे उठ कहता—

धोखा, धोखा, धोखा !

पड़ाड़ी खन्दक में पास वह हिन्दुस्तानी टुकड़ी का कमाण्डर था। पिछली घटना के दो दिन बाद आये—एक घाव बना दिल में पसारे। वह घाव अब दर्द देता कसक-कसक। हलके बात उठती—'सोफ़ी, सोफ़ी !'

बड़ी रात गये कहीं खुड़खुड़ाहट खेली थी । फिर—

'धायँ !' एक फ़ायर !

'धायँ, धायँ !!' दो फ़ायर ।

'धायँ, धायँ, धायँ !!!' तीन फ़ायर ।

खन्दक चारों ओर से घिरी पाई उसने । अब समझ गया वह । उलझन ठीक से पकड़ी । सब-सब सामने आया ठीक-ठीक ।

चट्टानों में छिपी टुकड़ी ज़िन्दगी में हारी ।

दस-दस, साथ ।

आगे, बीस-बीस ।

पीछे, पाँच-पाँच ।

सब शान्त में सोये । केवल मन-बुझाव करने कराहना-मात्र थी वहाँ । आगे दूर-दूर खेतों में वे खो गये ।

"सोफ़ी !"

किसी ने कहा था ।

वह भोला सरल मुख, घुटने तक फ़्राक, बालों में एक नीला रूमाल, ठीक-ठीक लगी । अन्दर गुदगुदी । वह बाहर रही ।

"ज़रा कस कर बाँध दो...!"

अपने कर्तव्य को निभा सोफ़ी बढ़ी थी । पास उसके आ, उनके घाव छू बोली थी—"तुम यू० पी० का है ?"

"और तुम ?"

बात को न पकड़ सोफ़ी हँस दी थी । फिर बोली—"मैं...?"

सोफ़ी की हँसी ज़रा अन्दर आई । वहीं पसरी रही । करवट ले सोचा, वह सोफ़ी भली-भली—हँसती-हँसती । और वह ज़िन्दा क्यों रहा ? अपने को धोखा दे, गोली लगी, एक घाव बना, खून बहा, पार चली—सन्-सन्-सन् ।

और अब वह इस नई सोफ़ी में क्यों उलझ रहा है ? विचारों में सोफ़ी उलझी । ज़रा ऊपर घर.. र...र...र ।

पास में हवाई जहाज़ ।

सोफ़ी चिल्लाई—"भागो, भागो !"

खतरे से परिचित थी वह ।

पास में धूल । रेत बैठी...एक बम गिरा । सोफ़ी चीखी, उसने आँखें बन्द कर लीं । दूर पर थोड़ी-थोड़ी रेत उड़ रही थी । सोफ़ी का पता न था ।

छाया का भ्रम आया । सूझता, इस नारी में वह सोफ़ी को क्यों टटोल रहा है । बड़े अफ़सर ने घर जाने की इजाज़त दे दी थी । चलने से एक दिन पहले सुना था—'एक हिन्दुस्तानी कमाण्डर की जान बचाते समय सोफ़ी ने अपनी जान दे दी ।'

वह नारी महकी लगी ।

दूर बादलों के पास उसे देख वह भ्रम में चौंका—"सोफ़ी, सोफ़ी !"

छाया पास आई । बोतल दे वहीं रही । बोली—"क्या गहरा घाव है ?"

'गहरा...?' वसन्त ने बात दुहराई ।

सोफ़ी ने भी तो कहा था—'घाव गहरा है । ठीक से रखना ।' बात न समझ हँस दिया । छाया मन के निकट चली । पास-पास कुछ सुझाती । वहीं रही, पीड़ा बाँटती । सोफ़ी से मिलान कर सुलझा । बात उठी, यह छाया...और वह सोफ़ी...नाम का नपा-तुला फ़ासला, कमरे की सरल नारी छाया में फैलती लगी । उसी में रहा, ज़रा अन्दर । और बाहर एक काला परदा भ्रम का ।

फिर कई दिन वह उसके घर पर रहा था । उसके मित्र की बहिन होने के नाते वह निभ गई खूब । कुछ स्वस्थ हुआ, तो एक दिन गाने की ठहरी ।

हरी-हरी घास, पास खिले फूल, बहता नाला, छाया अपनी सखियों के साथ थी खूब सजी, खिली-खिली ।

घास के उस पार वसन्त !

दूर-दूर ।

साँझ हो चुकी थी । चाँदनी में स्वप्न-सी छाया, भागती सखियाँ । सब-सब । बुझाती-सी लगी—"खूब ! खूब !!"

और मेड़ पर वसन्त । देखा, छाया है । बच्चों के-से लापरवाही से कपड़े । साड़ी ज़रा उलझी । दाग़ों से बची । कहने लगी—'वसन्त, वसन्त !'

जब गाना ख़त्म हुआ, तब और भी रात हो गई थी । खेल-खेल में सखियाँ आगे रहीं । मेड़ के पास छाया को देख वह बोला—"छाया !"

छाया चौंकी । वसन्त को देख हँसी थी । खूब निहार बोली—"इतनी रात... आप ...यहाँ, चलो, घर चलें ।"

आगे छाया रही...बढ़ी। बसन्त को आते न देख वह ठिठकी ? फिर वहीं से कहा—"आइये चलिये न !"

बसन्त बैठा रहा, चुप-चुप, गुम-सुम। पास के नाले से खेलता, लहरें उठाता। सोचता, ज़िन्दगी कितनी थोड़ी है। उसमें सोफ़ी, बन्दूक की गोली, घाव, छाया और लहरों से उसका हाथ छू गया। ज़रा ठंढा लगा ऊपर भिगोता। जैसे यह सब बातें अवज्ञा लिये हों उसमें। बोला...मन नहीं करता छाया !"

छाया झुकाती लगी—कुछ कहीं पर।

वापस आ पास से बोली थी—"ऐसा भी क्या...मैं कहती हूँ...चलो।"

फिर हँस आगे बढ़ उसका हाथ पकड़ घास से भरी पगडंडी पर आई।

छाया साथ-साथ। एक हाथ का हलका सहारा। सहारा अज्ञान छूटा-सा लगा। चलते वह बोला था—"छाया, मुझे याद न करना, ज़िन्दगी बन्दूकों के सहारे आगे बढ़ती है। उसी में रह चलती नहीं। टिकी-टिकी मनुष्यों की लड़ाई में खून बहा, एक धायँ; बड़ा-सा दम्भ; यहीं मैंने जाना है। पत्र कभी न लिखना, अच्छा !"

छाया चुप रही थी।

वह सोच रही थी—मनुष्य कितना स्वार्थी है। अपनी बुद्धि के सहारे दूसरे का पथ ले मनुष्य का खून बहाना उसके लिये कितना सरल है। बोली थी—"बसन्त, यह अपने बस की बात नहीं है।"

और तीन दिन पहले के ये काले-काले सधे-सधे दो अक्षर मेज़ की बनावट में मिले-मिले सफ़ेद काग़ज़ पर, सामने आये। कहती रही—"आप याद न किया करें, मेरा नाम और आप...।" फिर हँस बोली—"जी में आया था—इन्हें मिटा दूँ... परन्तु...।"

और बसन्त का 'मूड' बिगड़ा। एक अवज्ञा यहाँ पाई उसने, फिर सूनापन। मन में उलझा।

बात पकड़ बोला—"इतना भी अधिकार आपको अखरता है !"

आगे चुप ही रहा।

घर आ गया था। छाया सम्भल कर आगे रही।

अगली सुबह उसे जाना था। छाया न कर सकी विदा। मन में हूक-हूक उठा, कहीं कहा नहीं।

और महीने पहले छाया स्वामी के घर से आई थी। हँसी खेल, बचपन में रही, हल्की हो यहीं रह गई थी।

मन बहलाने-मात्र का साधन था, वह भी गया।

कहता-कहता—"सच, सच, सच !"

छाया कुछ न बोली। अपना मन समेट, पुस्तक ले चली कहती-कहती—"बिना आप के कैसे रहूँगी...!"

तभी पास में बसन्त की चीख़—"बाब !" उसका नीला सूट मन से खोला—बुलाता—'छाया, ओ छाया !'

दूर पर बादल उड़ रहे थे।

कमरे के बीच कुरसी पर बैठी वह सोच रही थी—'बसन्त यदि स्वामी हो सकता और स्वामी...!'

बड़ी उलझन थी।

तुम हँसी क्यों ?

ज़िन्दगी में जो एक गुबार लिये धुआँ-सा है, उसमें कमला का मन जमा है। वह ऊपर-ऊपर ही उसे हटा, फैला, जैसे कुछ हलका होना चाहती है। जैसे उस धुएँ की कड़ुवाहट को वह अब सह न सकेगी। धुआँ है, पर वह बिखरा नहीं है। सिर्फ़ पास आ, खुशी को समेट, उसके दिल में समाया है, और उसमें अपनी बात पा, वह कमला नारी चौंक पड़ती है।

आँगन की दालान की बातें... ऊपर छतवाली खिड़की की ओर निहार कर वह सकुचाये क्यों? एक गुबार कुहरा लिये आया, जो चुपके से सुझा गया कि कमला, यहीं ज़िन्दगी है, मन का बोझ भी यहीं। और देखो, इसे सँभाल कर खर्च करना। वह कुछ ही करे, फिर इस मन का मन न जाने क्यों भीग जाता है।

और प्रभात की हँसी उसे अच्छी लगती है, अब अच्छी लगती है, और उसका मन है कि प्रभात सदा उसी का रहे। वह सोचती है मन की पीड़ा, वेदना, दुःख निराशा दे क्या उसे वह अपना न सकेगी? जो दुःख है, वह प्रभात का है नहीं, और जो सुख है, वह इसका है। उसमें प्रभात के न आने की भी बात है। प्रभात ज़रा समझता अधिक है, कुछ भावुक भी है। फिर वह क्या प्रभात से अपना रास्ता अलग-अलग ही बनाये जायेगी। मन को उलझन से हटाया, तो वह सूना हो जाता है, और फिर सारी बातों को आगे कर वह सूनापन वैसे प्रभात के ढीले पायजामे और काले कोट में उसे ढूँढ़ कर पुकारता हो—प्रभात! 'ओ प्रभात!!'

प्रभात अनायास ही उसके सामने आ खड़ा होता है। चुप-चुप, बेबोल, अनम-नस्क, कुछ सकुचाया-सा। और तब कमला चाहती है कि वह कुछ कहे—कहे ज़रूर। चाहे वह बोलना उसके लिये हो, या उसकी गृहस्थी के लिये।

पर प्रभात बोलता नहीं है।

कमला को लगता है कि यह प्रभात भी कैसा मूक-जीव है। इधर-उधर से आ, ज़रा बाहर-बाहर ही चुपचाप हड़बड़ा एकदम कर खड़ा हो जाता है, जैसे वह कहता ही रहेगा, और मेरी भावनायें समझता नहीं है। इसे भी तो, थोड़ा-सा हँस कर, ऊपर-ऊपर का जवाब दे, कोट के फाउण्टेन पेन से खेलता रहता है। कहता है

कि शादी एक ज़िम्मेदारी है, मनुष्य के खेलने के लिये नारी का निर्माण नहीं हुआ है। आगे बात गम्भीरता से खोली जाती है।

यह वैज्ञानिक उत्तर उसके लिये काफ़ी नहीं रहता है। वह क्या सुने और क्या नहीं, यह स्वयं उसकी समझ से हटा हुआ है। फिर भी उसे देख, कुछ हँसती-हँसती-सी वह छिपी-छिपी लड़ी से खेल क्या नहीं पाती है? जो गम्भीरता की बात उसने तोली है, वह ठीक है। 'शादी' एक ज़िम्मेदारी है, जैसे वह इससे सहमत है, और अब उसका मन उसकी ज़िम्मेदारी को बाँट हँस-खेल कर ज़िन्दगी काट डालने को हो आती है।

दूर-दूर की वैवाहिक गति में आ, उसे सफलता से निभा उसने पाया है कि वह प्रभात के बहुत समीप से समीप आती जा रही है। और उसे समीप पा, वह मन ही मन में कह लेती—प्रभात, देखो, अधिक बात ठीक नहीं है। ज़िम्मेदारी जो है, वह हमारी भी है। उसे अकेले उठाये-उठाये जब तुम थक जाओ, तब मेरे कन्धों पर रख देना। मैं आगे बढ़ूँगी; जी चाहता है कि इस ज़िम्मेदारी पर अपना सारा भार टिका दूँ, और तभी जैसे प्रभात कुछ सुस्त-सा गुम-सुम हँस चुप हो जाता है।

याद खत्म नहीं होती है।

प्रभात को प्रतीत होता है कि कुछ-कुछ वह बदल रहा है, जैसे उस परिवर्त्तन में एक कोमल नारी की उदास याचना की ठुकरान हँस रही है, और कह रही है कि तुम्हीं पुरुष हो, ऐसे पुरुष पर कौन विश्वास करे? कमला के खिले हुये मुख को देख उसे भ्रम हो जाता है, जैसे कि वह भी इसी भाँति नारी रही होगी, और तब जैसे वह पूर्व नारी खिल-खिल, खिलखिलाती-सी उसके सामने आ, हँस एक ओर चली जाती है, और कहती है कि मेरे साथ रहना। अच्छा, मुझे भूलना मत! कभी उसने सच ही तो कहा था कि मैं तुम्हारे साथ ज़िन्दगी बाँटूँगा। और पाऊँगा कि यह बन्धन मेरा ही नहीं तुम्हारा भी है।

उस समय पान लगाते-लगाते उसका मन उचाट रहा था।

नहीं, नहीं, नहीं!

वह क्या करे?

कमला को क्यों धोखा है। और क्या उसे नहीं मालूम है कि प्रभात कितना दुःखी है। एक बीती याद मन से लगाये फिरा करता है।

और फिर कमला को घर के किसी काम में जुटा पा उसे शान्ति की याद आ जाती है। थकी-थकी वह सामने आ जाती। चुप-चुप! कभी वह उसके घर चला गया था। शान्ति दूर के रिश्ते की तो थी, पर बुआ के साथ उसे पा लगता जैसे वह

उसकी ही हो। फिर वह क्यों उसके लिये टिका रहा था ? चला, तो शान्ति ने अपनाव बिखेरा, रोई खूब खिल कर ; जैसे रोना ही उसे आता हो ; जैसे कहना चाहती हो, कि यह रोना तुम्हारे बिना बन्द नहीं होता। और प्रभात उसी दिन वहाँ से चल दिया था।

कमला को लगता है कि प्रभात को किसी की सुध रहती है, पर वह पढ़ नहीं पाती।

फिर एक दिन सन्ध्या को प्रभात आया, बैठा, तो कमला की माँ ने कहा था—"कमला भोली है, कहीं किसी को सौंपना है उसे।"

यह सब प्रभात जानता है, कमला की माँ की इच्छा भी उसी पर है। कभी राह चलते-चलते उसने कहा था—"तुम्हें तो मैं अपना बनाने वाली हूँ।" और उसने केवल ज़रा गम्भीर हो, बात को टाल उत्तर दिया था—"मैं तो आप का ही हूँ।" शान्ति को दया सोचा, यह खेल बुरा नहीं है। चुपचाप साथ-साथ चल दिया था। अब वह उसका उत्तर क्या दे ?

विवाह ?

छिः ! छिः ! छिः !

× × ×

दूर पर शान्ति को हरी साड़ी में उलझा देख वह रुका। वह तभी विदा हो कर गई थी, हाथों में डायमण्ड-कट की दो पतली-पतली चूड़ियाँ, पाँवों में पायल, शान्ति खिली-खिली लगी। कहने लगी—"यही समाज का विधान है, मुझे बाँधा है—तुम से दूर-दूर, देखो, नारी की पहिचान करो।" और प्रभात ज़रा पास गया, हँसता-हँसता। वह बैठी रही, एक कोने में दुबकी-दुबकी। फिर उसे देख धीरे से बोली—"मन का न होना ही होना है। स्वामी असभ्य हैं। कल बात-चीत में उन्होंने ज़ोर से डाँटा...और...और...तुम...!"

"शान्ति !"

वह कहती ही गई।

"जिसे पाया, उसे खोया, और 'पाया' की जिन्दगी का एक भार है, भार रहेगा।"

"शान्ति !"

उसकी हिचकियाँ बँध रही थीं।

सामने कमला की माँ को देख वह कुछ सँभला। सोचा, कमला भी नारी है। ज़रा पास आना चाहती है। तभी कमला आई तश्तरी में कुछ लिये हुये। उसे एक ओर मेज़ पर सरका, चली, तो हँस दी, फिर चली ही गई, जैसे उन मिठाई के टुकड़ों से वह खेल, रूठ, और सौंप कर चल दी हो। प्रभात ने चाहा कि वह खूब देखे उसे, बोला—"मनुष्य शादी करता है यह सोच कर कि वह सुखी रहेगा। पर दुःख और पीड़ा के दरजे पा, क्या उसका सुख कम नहीं होता? मैं मनुष्य हूँ। ज़िन्दगी को समझा है। उसे बनाने में शादी का सहारा न लूँगा।"

अन्दर कमला ने ओट पकड़ कर सोचा कि यह जो पुरुष है, उसमें दुराव क्यों नहीं है। और कमला तो जी में और कुछ सोचती है।

बात उलझी थी। कुछ जमी थी नहीं। दूसरे दिन कमला की माँ ने सुनाया—"कमला बहुत नाराज़ रही कल! तुम्हारे चले जाने के बाद बराबर रोती ही रही। कहती, तुम्हारा मन उन पर क्यों रहता है? तुम उन्हें क्यों पकड़ती हो। उन्हें कुछ लगता नहीं है। मुझमें है ही क्या...?"

प्रभात ने सुना, सोचा, कमला ठीक कहती है। वह नारी है। सम्मान की बात पकड़ी है। फिर क्या उसे दुःख छुआ न होगा? प्रभात कुछ बोला नहीं। चुप-चुप हँस दिया, और कहा—"मैंने कमला की बात सोची थी।"

तभी कमला हरी साड़ी हिलाते-हिलाते एक ओर से निकल गई, कहती-कहती—"बात सोची थी...तो एहसान ही क्या?" सम्मान का प्रश्न उठा। खुद ही फैसला किया, अधिक खुशामद ठीक नहीं, हँसी और चल दी, चली ही गई।

यह सब प्रभात के लिये एक नया खेल है। वह शादी न करे, पर कमला को क्यों जलावे। अन्दर से पान ले वह लौटी। उसे सँवार, चाहा कि कुछ बोले, पर लाज में दबी-दबी चुप ही रही—खूब गम्भीर-सी।

प्रभात ने देखा, तो वह मुद्रा उसे डस गई। जैसे बड़ी-बड़ी आँखों ने चुपके से कहा हो कि तुम्हें विवाह करना पड़ेगा। तुम्हारे कहने से क्या! और जब प्रभात चौंका, तो सामने कमला को देख वह सकुचाया। दुबला, पतला शरीर, हरी साड़ी और उसमें छिपी कमला नारी! मन कुछ भर आया। जैसे वह नारी मन-चुभाव कर उसमें सिल गई हो।

कमला के मन के ऊपर जो एक परदा-सा है, उसे वह हटाये कैसे ? वह परदा प्रभात को देख—समझ भी गहरा हो चला है।

फिर कब एक सन्ध्या को प्रभात बाहर ही बाहर चला गया था। छुट्टियाँ हो चली थीं। उसे जाया जान, उसने अपनी ज़िन्दगी की पहेली सुलझा, रात का दीपक जला, सोचा—वह क्यों हँसी थी ? और तभी जैसे उस दीपक के शिथिल प्रकाश में उसे प्रभात के उलझे-उलझे बाल और ध्वस्त-व्यस्त मुँह दिखाई दिया, जैसे उसने कहा—'हाँ, तुम हँसी क्यों ?' कमला सिहर उठी। चलो, तो दीपक बुझ गया, उस अँधेरे में जैसे किसी ने फिर कहा—'हाँ, हाँ, तुम हँसी क्यों ?' इस बार कमला खिल-खिला कर हँस पड़ी, और वह बाहर आ गई। माँ ने पुकारा था—"कमला !"

उलाहना

इस दूर तक बहती नदी में जैसे शोभा के नाम की चिट्ठी छिपा, लिख, अब लगता है, ज़रूरत निभा, पास-पास ला, जिम्मेदारी से लग केवल उत्तरदायित्व में रह जाना पड़ेगा। पिछले दिनों की बात पहिचान में आ, लहरों से खेल, व्यथा बिखेर, दिल में एक स्थान बना, जैसे सुझाना चाहती हो कि ..तू...चिट्ठी लिखना, मेरे नाम की। पढ़ना भी। अपनी ही ज़रूरत सही। कुछ भी हो...।

और शोभा की चिट्ठी—

शोभा !

आज कई दिनों से तुझे पत्र लिखने की सोच रहा हूँ। चाहता हूँ कि अपनी यह ज़रा-सी विवशता बाँध, सीमित कर आगे बिछ जाऊँ ! और तब हृदय-मात्र से तुम्हारे सहारे जो दुनियादारी का उसूल जमा है, उसे खोटा न करूँ। ठीक वैसा ही, उसे मिला। घटनायें कहाँ तक सिरजूँ। जिम्मेदारी में लगी तू...घर आकर जैसे खाली रहना नहीं चाहती। तू भी क्या है ? जैसे कभी समझ में भी नहीं पसरी है। अलग-अलग अपना रास्ता आखिर बनाये ही रही। वहीं से कहती लगती—मैं हूँ... कोई दूसरा कहाँ ? तब ही याद आती है कि तुझसे कुछ छिपाया नहीं है।

पिछले दिनों वह खिली-खिली श्यामा आँखों में आ जम चली थी। तुझे लिखते भी कहाँ शर्माया था। अभी भी वह वैसी ही है। हँसती, खिल-खिलाती वहीं रहती। उससे मिल एक जगह बनी थी। वहीं पर उसे टिका-बैठा आगे आया था। तब मन में उसके प्रति सौदा नहीं था। आज श्यामा का अभाव अखरता है। मन से लड़-झगड़ जैसे पूछना चाहता हो कि अलग क्यों...और मैं...?

सफ़ेद साड़ी पहिने थी।

सादे बालों में किलिप लगे थे।

बीच में एक सुन्दर-सी बिन्दी...।

खूब सुन्दर लगी वह। हँसी-बोली थी—"हम और तुम साथ-साथ रहेंगे !"

"हम-तुम !"

"हाँ...!"

आगे वह दिल में मूक ही रही। श्रद्धा का अभाव था कहाँ? मन में एक उलझन थी। उसे बिखेर चाहा था कि निभ जाऊँ! और तुझे भी तो लिखा था कि श्यामा मुझे खूब भली लगती है। तब क्या मालूम था कि हम पृथक ही रहेंगे—श्यामा से बहुत दूर। वहीं रह अपनी ज़िन्दगी चला, ज़िम्मेदारी समेट चाहेंगे कि हम यहीं रहें। पास नहीं...और...श्यामा चिट्ठियाँ लिखना खूब जानती है। उसी के सहारे कह-सुन, ज़रा हलका हो, मार्फत बन पास आ जाती है।

अब उसके स्वामी हैं। उसी में अपने को समूचा पाती, जैसे हटना उससे एक पाप है। उस बार गया था—श्यामा दुबली मिली। मुझे देख हँसी नहीं। पास आ, धीरे नमस्ते कर एक ओर गम्भीर हो चली गई। मन से वह उलझी, पूछा—"श्यामा क्या है?"

"श्यामा...?" बात हलके दुहराई। ऊपर ज़ीने पर जाती बोली—"अब क्या बात है...? जैसे कुछ जानते ही नहीं।"

"श्यामा!"

श्यामा नीचे आई। बोली—"किसी दूसरे के पास रखना अच्छा लगता नहीं। मेरी कमज़ोरी को कमज़ोरी कह क्यों बढ़ा रहे हो। कल चार चूड़ियाँ ला देना...... माँग का सिन्दूर भी...। पराये हाथ क्यों लूँ। और तुम...? स्वामी...।"

आगे श्यामा ने चूड़ियाँ उतार फ़र्श पर फेंकी। उनकी खन-खन सुनी। तभी सोचा—यह श्यामा कब अपने को समझ सकेगी। फिर माँग का सिन्दूर पोंछ आगे आई। बोली—"देखो, अभी मुझ में कुछ भी बुराई नहीं है। तुम सब चीज़ें कल लाना ज़रूर तभी पहनूँगी...अच्छा!"

शाम की ट्रेन से मैं चला आया। आज तक श्यामा की चीज़ें नहीं भेजी हैं। यह भोली नारी आज कोरे काग़ज़ पर बिखरी मालूम देती है, कहती-सी—'मेरी चीज़ें...और क्या तुम्हारा यही आदर्श है?'

तभी पास में एक छोटे बच्चे की दर्द-भरी हँसी खेलती। उनका 'प्रिस्क्रिपशन' सँभाल कर रख लिया है। पड़ोस में नाता जोड़ एक को चाची बनाया था। वह चाची भी जां से उलझी हैं। और बच्चा—? उन्हीं का वह छोटा-सा बच्चा बीमार रहा था। देखने गया। वह भोला शिशु—छोटी-सी चारपाई पर लेटा असहाय लगा। कहता—'मैं अपनी पीड़ा बता नहीं पाता...!' उसकी गोरी-गोरी सूरत मुँह तक बिखरे

बाल.......आँखों के पास एक छोटा-सा दाग......! और बच्चा बीमार रहा। पीड़ा से तिलमिला, मुँह खोल चुप ही रहता। कुछ बोलता नहीं। मन भर आया। डॉक्टर ने कहा—"ताक़त की दवा देता हूँ।" वह पैसे पर झुकने वाला डॉक्टर!

और उसका...प्रिस्क्रिपशन?

बच्चा मर चुका था।

घर आया। प्रिस्क्रिपशन बन्द कर सोचा—क्या सचमुच वह मर गया। और डॉक्टर की ताक़त की दवा...!

एक दिन सुना चाची ने खाना नहीं खाया। उसी के पीछे...! सुन खूब हँसा। आज सोचता हूँ, मुझे हँसना नहीं चाहिये था। वह निभा कहाँ और फिर...

अब की श्यामा से मिला था। बच्चे की बात कही, तो वह बोली—"आप क्यों दुःख लेते फिरते हैं। आप पुरुष हैं। ऐसा होना आपके लिये ठीक नहीं।"

मन के निकट तभी कामना कहती-सी—"कल आऊँगी अच्छा!"

कामना का मकान बड़ा भारी है। मुझे बहुत अच्छा लगता है। उसी में रह, अपने को सँवार मुझसे लगी है। कभी तुझे भी तो कामना के विषय में लिखा था। खूब खिली है वह! सच, उसे देखते जी नहीं भरता। पहले ही दिन घुल-मिल गई थी। तब ही मैंने सोचा था—'यह नारी दिल बसा सकेगी। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें नीली-नीली मुझे भाती हैं। दिल में बिखरी एक घर बना वहीं रहती है। बाहर क्यों (?) चलते-चलते थोड़ी पीड़ा पी ली है, उसने गहरी-गहरी—घनी-घनी! उसी में अपने को थाम ज़रा दुःखी हो हँस-खेल चला की है। काफ़ी पढ़ी है। रँगी साड़ियों से उलझी-उलझी वह लगती है, जैसे कोई अपनी रही हो। नीचे बैठती, धीरे बोल आँखों में समझ, पसरती लगती है। एक युवक उसके जीवन में आया था। अपनी याद सैंत वह चला कहता—'कामना! मेरी...!'

वह युवक अब इलाहाबाद में पढ़ता है। नाम तुझे नहीं बताऊँगा। वहीं कॉलेज की पुस्तकों से उलझ, काली-काली छपी छापे की लकीरों में कामना को ढूँढ, समझ लेना चाहता है। जब कामना छोटी थी। बच्चों के-से लापरवाह कपड़े पहिनती। घर में दौड़ी-दौड़ी रहती। तब क्या उसे पता था कि वह उसे ठुकरा, ज़िन्दगी में हटा कहीं दूर फेंक देगी। घण्टों अपने को उसमें पाती।

पिछले दिनों इलाहाबाद गया था। तभी उससे मिला था। कामना की फ़ोटो पर आँखें टिकीं, जैसे कुछ ढूँढ लेना चाहती हों। सब समझ वह बोला—"यह भी एक ज़िन्दगी की सनक है। कम्मो की यही फ़ोटो-मात्र है, वैसे जी मानता नहीं

था। पास से दियासलाई ला पारसाल सब बुझा दी थीं। उनकी राख है केवल काली-काली।"

फिर बोला—"आज भी उसका पत्र जी से उलझ जाता है। बिछा-बिछा, कहता-कहता...मैं कम्मो का लिखा हूँ। तुम उसकी उपेक्षा करोगे...छिः! छिः ज़िन्दगी में उसकी एक-एक लाइन आई है।"

रास्ते में चलते-चलते सुनाया—पिछले दिनों कम्मो से काफ़ी उलझा रहा हूँ। एक घटना के दो दिन याद आते हैं। कम्मो थी। पार्क की लॉन में हरी-हरी घास पर। गुलाबी गहरे रंग की साड़ी...ओंठों पर लिपस्टिक, हाथों में दो-दो चूड़ियाँ, दिल में पसरी वह। हटी नहीं। कहती-सी—'तुम मुझे आज तक न समझ पाये। खूब! खूब!'

तब ही कम्मो का छोटा-सा कुत्ता दौड़ता आया था। प्यार से चिपट साड़ी खींच उसी में खो गया। और कम्मो ने अब देखा, साड़ी का एक सिरा उसकी लापरवाही से फट गया है। खूब गुस्सा हो उठी। देख, बेचारा कुत्ता डरा। भाग कर, आँखें मींच पास आया। फिर कहा—"कम्मो!"

वह बोली नहीं कुछ।

"इतना गुस्सा, साड़ी से टुकराना कब छोड़ोगी?

"साड़ी से...?"

"हाँ!"

"और यह कुत्ता?"

"दिल हार थका है कम्मो!"

कम्मो हँसी थी, फिर दूसरे दिन सिल्क की साड़ी लेकर पहुँचा। देखा, कम्मो बैठी स्वीटर में उलझी है। बड़ी-बड़ी आँखें मन से खेलीं। पास जा साड़ी रखी। कम्मो सब समझ गई। बोली—"इतना बिरानापन।"

"बिरानापन!"

"और क्या नहीं?"

"कम्मो, कुत्ते की मार्फ़त तुम तक आया हूँ।"

"मुझ तक!"

फिर बोली—"अगर किसी की मार्फ़त न होते, तो मैं इसे अपनापन दे देती ज़रूर!"

"कम्मो!"

और कम्मो न कर सकी थी नहीं। चुप-चाप ले, अन्दर जा सन्दूक में बन्द कर बैठी।

पिछले दिनों उसी साड़ी के कुछ टुकड़े मकान के पीछे कूड़े में मिले थे। माँ ने सुना, तो बुरा-भला कहा था।

दिल में एक अँधेरा, दूर पर उदासी से भरा। हटता कहाँ? फिर कामना मिली थी कभी, घर पर खिली-खिली। मुझे देख उठी, धीरे बोली—"आइये!"

कुछ बीमार रही वह। कमज़ोरी में आई भर। मैं रुका नहीं, चुपचाप बराण्डे में साँस ली। वहाँ सफेद-सफेद कबूतर लकड़ी के घर से निकलते झाँक, पंख खोल उसी में रहते, जैसे बस, उसी तक उनकी पहुँच रही हो। वह काले रंग का बड़ा-सा कबूतर आँखें फैलाता, फिर जाने पर पंजा बढ़ा, कहता-सा—'मैं कम्मो का सिखाया हूँ। और यह काली-काली मेरी साथिन...जानते हो...।'

साथिन...! सोचा, अब इतने दिनों के बाद क्या दुनिया में रह कर, कामना को इलाहाबाद वाले युवक की याद नहीं आती होगी। तभी जैसे कामना सामने ही गुस्सा से कहती—"छिः! मेरा स्वामी है...और वह...! निकट में पुस्तकों से भरी अलमारी। आगे हरे तौलिये...बीच लाल-लाल! और आगे कामना को देख ज़रा उलझा। लौटा, तो कामना को दीदी से उलझा पाया। पास आया, कामना कुछ छिपाती-सी लगी। कहा—"कामना!"

दूर ही वह रही। वहीं से थोड़ा हँस बोली—"कुछ नहीं...आप...?"

"कामना, मुझे नहीं दिखाओगी?"

सुन, कामना कुछ शिथिल हो दूर ही रही। चोरी पकड़ी गई थी। लजाती-लजाती कुछ बोली नहीं, फिर पास आ बोली—"आपसे क्या छिपाऊँ!"

कामना तस्वीर में आई। सफेद साड़ी पहिने थी। सिकुड़न से हटी। उसी में खिली-खिली किसी कलाकार की मार्फ़त कोरे काग़ज़ पर हँसती रही—सजीव ही तो! नीचे तीन अक्षरों का नाम। इलाहाबाद वाला युवक समीप आया। ढीला-ढाला पैन्ट पहिने था, होस्टल में बैठा कहता लगा—'मैं ने कभी कम्मो की तस्वीर खींची थी। तभी अपना अधिकार बँटा नीचे अपना नाम लिख, मिटता-मिटता मिट गया था। पिछले दिनों वह तस्वीर माँग भेजी थी। सुना था, कम्मो उसे कहीं बाहर भेजने वाली है।' युवक हँस कर कुछ दूर हट गया। अपने में आया, कामना सामने रही। शरमाई-शरमाई—पीछे हटी। उसका टूटापन आज दिल में कुढ़-कुढ़ करने लगता है। सोचता हूँ—इतना सब कुछ होने पर भी कामना ने अपने को पृथक क्यों रखा?

कुछ दिन बाद सुना था, कामना ने खुद ही विवाह के लिये उससे 'न' कर दिया था। कामना आज भी एक पहेली बनी आफ़िस की फ़ाइलों से खेलती लगती है। वही 'शार्टहैंड' की बेमेल लकीरों में वह छुपती नहीं। पतली, लाल, लकीरों से भरी आफ़िस से दी हुई कापी के एक कोने पर बैठी हँसती-हँसती कहती-सी—'तुम काम करो, मैं तुम्हारे साथ हूँ।'

तुझे खूब पहचानती है कामना! घर आ छिपी-छिपी वह रही थी एक ओर—दीवार की ओट ले। बाहर से आया, सीधे बरामडा पार कर अन्दर पहुँचा। ग़लती पकड़ी गई। पीछे कामना अपनी सुपुर्दगी में जान खूब हँसी थी। अपनी सफलता पर! तब सोचा था—क्या विवाह हो जाने के बाद भी कामना निरी बच्ची ही रहेगी। बच्चों की सी चाल चलती है। हँसती और खेलती भी। फिर अन्दर मेज़ से मेरा फ़ोटो उठा बोली थी—"अच्छा, यह चोरी क्यों?"

"चोरी!"

"तो फिर किसके लिये खिंचवाई है?"

"तेरे...!"

कामना जैसे कट गई हो।

कुछ झेंपी-सी लगी। रुमाल मुँह पर रख हँसी थी खूब! फिर उसे ब्लाउज़ की जेब में रख पास आ बोली थी—"एक कापी और चाहिये?"

"क्यों?"

"एक हमारी, और एक हमारी बहिन की।"

"बहिन?"

तब कहाँ समझा था कि यह नाम कामना ने तुझे ही दिया था। अपनी मार्फ़त कापी की ओट ले ज़रा अपनत्व बिखेर तुझे ही ज़िन्दगी में सौंपा था। आज उसकी यह बात मन से झगड़ा करती है।

तब मैंने उसका नाम बदल कर आशा कर दिया था। यह दो अक्षर अपने में ऐसी वेदना भरते कि समझ नहीं पाता कि मैं सब कुछ क्यों न हुआ। वह बार-बार हल्ला करती, झगड़ती, आगे बढ़ती। आशा को भाँप न पाती। खिली-खिली पसरती। फैली बनी रहती। कहती-कहती यह आशा कौन है, जो आप के दिल से चिकोटी काटती हँसती ही रहती है, एक अपनाव लादे? कहाँ जाती कहाँ? और वास्तविक बात जान, उलझन छोड़, लाज से कट यह सुन्दर नारी सब मान लेती। फिर भी नाराज़ मिलता—"जी, हाँ! मैं सब जानती हूँ, आपने आजकल किसी और...!"

"सच, नहीं कामना!"

फिर कसम की दिमाग़ी बुनियाद पर वह आती। वहीं हार मानती। कहती—"मुझे आप क्यों मानते हैं ?"

आजकल उसके पास भी स्वामी है। सुना है, कॉलेज का प्रोफ़ेसर है। कहीं 'इकनामिक्स' और 'लॉजिक' की गहरी दार्शनिकता में डूब उसे खोज कह लेना चाहता है कि कम्मो मैं भी हूँ...मुझे धोखा न देना, अच्छा! पर कामना को क्या कभी ठीक-ठीक समझ सकेगा ? तभी जैसे कोई कहता—'नहीं, नहीं, नहीं!'

हाँ!...तेरी चिट्ठियों की बात...! तेरी चिट्ठियाँ भी खूब होती हैं। याद है—शादी के कुछ दिन पहले की वे चिट्ठियाँ ? जैसे उन काली-काली लकीरों में ही बिना नाम की चिट्ठी...मुझमें उतरना चाहती थी। उन्हीं की मार्फ़त सब कुछ कहती, तब मुझे कहाँ मालूम था कि नारी इतनी कमज़ोर है। नारी की भावना निरी समझी थी। पकड़ी भी नहीं! चिट्ठियों की समझ आई थी सुझाती—'मैं दूर कहाँ...पास ही तो, तुम जाना नहीं यहीं रहना पास ही...।' घर से मेरी बुराई दूर करती। वहीं झगड़ती। आज तेरी वे चिट्ठियाँ मेरे और तेरे बीच मात्र एक अपनाव जोड़ खड़ी हैं।

शादी की बात...!

तू चुप रही थी। सहारा पकड़ सब समझाती लगी। दूर पर हँसती वह उपेक्षा कहाँ पी आया था। शीला का साथ...। मन खोल सब कुछ दे अपने में सिमट चाहा था कि तुझे अपनी बात दूँ। शीला बीच...उससे लगी तू ..? भावना उस बीच खड़ी कर लेना आज एक साधारण बात है।

तब ही इस लम्बी-चौड़ी ज़िन्दगी में शीला को बीच ला पसरी-पसराई रही। मन कहता—छिः! छिः! तू...

पर तुझसे कुछ छिपाऊँगा नहीं। कभी छिपाया है या आज ही ? शीला ने कहा था—शोभा तेरे लिये गृहस्थी जुटायेगी। एक खिलौना बन तेरी उस गृहस्थी में आ, शोभा दुःख बाँट खूब निभेगी...! तू ने भी तो अपनी राय दी थी। तब मेरे सामने समझ ज़रा शरमाई लगी थी। भावुकता में जब बहता हूँ अपने से कोई रास्ता बना खेलता, सामने रहता और...तू...!

(२)

कामना भी खूब है! जो कहती, करती। बिलकुल सच-सच, झूठ ही क्यों ? बात बना, उससे सिर नवाना उसे आता नहीं। अपनी ग़ैरहाजिरी में जिम्मेदारी बिखेरने की आदी रही है। सिर्फ़ एक दिन घर से आ कर सुना—शोभा की शादी हो गई। शाम को कामना ने सुनाया।

"मनुष्य जो चाहता—वहीं रह, उसे पाता नहीं।"

"कामना ?"

कामना बोली—"चाहा था कि शोभा बहिन को आप में सौंप सोचूँ कि दूर नहीं...!"

हरी-लाल बिन्दियों से लगी साड़ी में कामना रही। उसी में एक घर बनाती, वहीं दुबकी, खूब खिली-खिली। शोभा का बहाना जुटा मन के पास आई। दूर पर काले-काले बादलों के पास तभी जैसे शोभा अपने स्वामी के पास रही हो। पैसे की गृहस्थी जुटा, उसी में कुछ समेट कहने लगी—तू ..बिना पैसे का...वहीं रहना... आगे खूब सफेद साड़ी हिलाते हिलाते झिलमिल भाग गई। कहती-कहती छिः ! छिः ! तू...कहाँ...और मैं ? सोचा ज़िन्दगी में एक परिवर्तन भर हम दुःख को समीप रखते। पहिचानते नहीं। और शोभा क्या सच ही पैसे पर पसरती। स्वप्न, निराशा, दुःख, पीड़ा सब ही तो हम पैसे पर टिका आगे चलते हैं। सोचने की सामर्थ्य हारा। ध्यान बँटा। कामना ने कहा—"क्या शोभा दीदी की याद आ रही है ?"

शोभा...!

मन भर आया। एक दिन वह दो अक्षर का नाम अपनी हँसी बिखेर, दिल से खेला था। खूब समझाता, ज़रा पसर जैसे मूक ही हो वेदना भरने आया। तब मन हलका थोड़ा ही था, जो समझ लेता और अब...? कभी घूम कर वापस आया था। हारा-थका, तभी शोभा के बड़े भाई ने चिट्ठी ला कर दी। वह रूलदार कागज़ का छोटा टुकड़ा एक व्यथा की लकीर खींच दिल में बिखरा। छोटी-सा कविता की आठ-दस लाइनें—और तभी......आधे टुकड़ों पर मानो शोभा आ, हँस चिट्ठी लिख गई हो।

"......!

मेरी कविता भी क्या खूब है, आप की पसन्द में रहेगी भी...। ज़रा लिखते-लिखते थक जाती हूँ। और तब चाहती हूँ कि अब न लिखूँ। पर अपनी कमी, कुछ भी कहो...ज़रूरत ही सही। और मेरे जाने से आपने आना क्यों बन्द कर दिया...!

तुम्हारी—

शोभा !"

तब शोभा घर से वापस आई थी। अपने पीछे की बातों से ज़रा परेशान रही ! कुछ सफलता पा, मुझे देख मात्र, दरवाज़े की ओट ले जैसे बोली हो—'मेरी चीज़... और...!' फिर प्लेट की यह नमकीन कहाँ आई थी। रास्ते में आते सोचा था,

शोभा से अभी सब छिपा है। ज़िन्दगी का सुख-दुख बटोर वह आगे आई। वहीं हँसती रही। खिलखिलाती पसरी। एक स्थान सुझाती। अपने सौंपने की बात सुन कर तब शोभा ज़रा मन के निकट हँसी समेट बड़े-बड़े आँसुओं में रोई थी। कहती-तुम मुझे दूर करोगे, बोलो! और अब मैं रुका। पिछले दिनों कामना की बात याद आई। वह चुप क्यों रहे। दुनियादारी में अपने को गला। केले खाने की ठहरी थी। केले छील, पास ला, बिखरी, फिर दूर ही से बोली—"आप भी...!"

आगे बात शरम में खो गई।

कामना केवल तब हँसी भर थी और बहाना करते देख, दुःख में सिकुड़ ज़रा गुस्सा हो बोली थी—"आप को मेरी कसम है, जो न खावें।"

कामना भरी-पूरी मन के नीचे ठीक-ठीक उतरी। उस दिन कामना को अच्छा नहीं लगा कि वह ठहरे। बात-चीत का सिलसिला ख़त्म कर चलती बनी।

× × ×

दो महीने के बाद एक उजाली रात! सामने दूध-सी चाँदनी बिछी, उसी में खोया, भावना समेट कुछ लिखने मात्र तुला कि कामना ने आ दरवाज़ा खटखटाया। पीछे एक छाया-सी दूसरी नारी को समेट वह आगे रही। फिर बोली—"इसे सौंपने लाई हूँ!"

"कामना!"

"हाँ, मुझे यकीन था कि आप मेरी बात जाने न देंगे। तभी तो यह साहस किया।" आगे बोली—"कल आई है, स्वामी का पता नहीं।" शायद बात आँसुओं में बह गई।

सुन कहा—"कामना, मैं समझ न सका...!"

और कामना ने आँसू पोंछ कर कहा—"यह शोभा है; जिसे एक दिन तुम्हारा...!"

"शोभा!"

दुबली-पतली; केवल हड्डियों में सीमित...और यह शोभा? भावना बाँट बोला—"तो...फिर...?"

आगे बड़ी देर तक कामना चुप रही। अन्त में बोली—"तो फिर मैं अब जाती हूँ।"

यातों ने एक जगह बनाई। वहीं शोभा की तश्तरियों का उलाहना जन ही गया। उसी के निकट शोभा का गोरा-गोरा मुँह कहता लगा—'धोखेबाज़, कलाकार! तू... और मेरा स्वामी...बिना पैसे का...!

हलके बोला—"कामना! पहले शोभा का उलाहना चुकाना है। फिर सोच कर उत्तर दूँगा, अभी नहीं। मैंने मिठाई खाई है। कुछ लालच ही तो...।"

मेरी मिठाई।

शोभा कुछ चौंकी। उसने मिठाइयाँ खिलाई हैं।...पर स्वामी...! और अब बोली—"इतना खोटा उत्तर...

मैं बोला—"शोभा, सम्भव है मनुष्य के कोई बात न लगती हो। फिर भी उसके दिल में एक गहरी चीज़ रह जाती है, जिसे निकाल, बाहर लाना ही वह चाहता है।"

शोभा बोली—"उस गहरी चीज़ से अब डर लगता है। गुस्से से ऊब बात कहने में कभी बड़ा सुख मिला। फिर भी...!"

"शोभा!"

आगे फिर शोभा बैठी नहीं। कामना को लेकर उठ पड़ी। फिर बढ़ती छाया समेट, दूर होती-होती चली गई।

रात भर शरीर आग-सा जलता रहा। हाथ-पैरों में दर्द की भारी अधिकता थी। सुबह एक थाल में मिठाई की तश्तरियाँ लगवा शोभा के घर पहुँचा। नौकर से कहला भेजा, और तब ऊपर कमरे में बैठी शोभा ने सोचा—यह नरेन्द्र भी कैसा है? क्या कभी भी इसको समझ सकूँगी। हलकी बात को भी गहरी बना ज़िन्दगी में समेट लेना है। गुलाबी साड़ी में खिली-खिली नीचे आई। बोली—"ओह, आप हैं!"

मैंने धीरे ही कहा—"क्षमा करियेगा। आज ही आपका उलाहना चुका पाया हूँ!"

और शोभा जैसे चौंकती बोली—"उलाहना!"

"हाँ, हाँ, आपकी सारी तश्तरियाँ लाया हूँ, इन्हें सँभालिये। मैं हारा! हारा! हारा!!!"

"मगर आप की तबीयत कैसी है! ये आँखें कैसी लाल...और यह मुँह कैसा सूजा...!"

"शोभा ! यह व्यर्थ की बातें हैं। मिठाई सँवार लो। मैं चल रहा हूँ।"

शोभा के दिल में भावना पसरी। मेरी जान-पहिचान ले वहीं रही। आगे नहीं बढ़ी। ममता, स्नेह, सुख, मिलन सभी तो इस भावना में था। बोली—"कहाँ से ला सके आप सब ?"

"आप के जाने के बाद सारी किताबें बेच दीं।"

"और मेरे लिये दी जाने वाली भी।"

"उनका क्या करता, शोभा ! वे भी तो उलाहना चुकाना-मात्र थीं। वे भी साथ गईं !"

अब शोभा आगे बढ़ी।

हाथ पकड़ बोली—"ओह ! ओ...!"

आगे कहती रही—"यह कहिये, आप को बुख़ार भी है...। मैं सोचती थी कि क्या बात है ? आप ने बताया क्यों नहीं ?" कि नीचे ताँगे वाले को चिल्लाता सुन बोली—"और यह ताँगा वाला क्यों बुला रहा है !"

"जा रहा हूँ। कुछ सामान उसी में धरा है।"

चौंक कर शोभा ने प्रश्न किये—"कौन जा रहा है ? घर क्यों जा रहे हो ? अभी क्या है घर में, कहाँ घर है, तुम्हें बुख़ार क्यों आया ? मेरे उलाहने के पीछे किताबें क्यों बेचीं...?"

फिर धीरे से मस्तक छू, हाथ पकड़, सँभालते हुये बोली—"चलिये, ऊपर लेटिये ! फिर जाइयेगा घर !"

"शोभा, एक बात सुन लो। देखो, अपने स्वामी को ढूँढ़ना। और मिल जाने पर उसी के निकट बिछाना। अच्छा !"

शोभा बोली वैसे ही—"यह सब फिर कहियेगा, ऊपर चलिये। आप घर क्यों जा रहे हैं ? फिर देखा जायेगा !"

"देखो, शोभा, एक बात और..., इतनी जल्दी नाराज़ हो बात न लगाना...वह तुम्हारा स्वामी है। स्वामी ही रहेगा...!"

आँखें शोभा के झुके चेहरे पर पड़ीं। वह लाज से लाल हो रही थी। आँखें भरी-भरी थीं—जैसे अब रोईं...अब रोईं...! बोली—"चलिये !" फिर ऊपर सँभालती पहुँची। एक बिस्तरे पर लिटा बोली—"अब सो जाइये। फिर सुनूँगी सब बातें...!"

आँखों में शोभा का वह स्नेह घूम गया। फिर धीरे-धीरे दिल के नीचे उतरा, सुझाता लगा—नारी की कोमलता—और शोभा भी तो नारी ही है...!

तभी चादर उढ़ा, वह सामने ही हँस, खिली-खिली खूब, बोली—"अपने उलाहने तुम्हें भी समेटा है। मिठाई और तश्तरी भी...! अब मिठाई मेरी, और मिठाई वाला भी मेरा...!"

फिर तश्तरी पास ला कहती गई—"मेरा उलाहना मिटाइये !"

आगे खूब मुस्कराती सामने से झिलमिल भाग गई। तभी मैंने सोचा—शोभा का उलाहना...!

'मनोहर सीरीज़' की निम्न-लिखित पुस्तकें छप गई हैं:—

१—शीशे की चोरी (उपन्यास)

लेखक—श्री रामसरन शर्मा

२—हृदय के टुकड़े (कहानी-संग्रह)

लेखक—डा० तेज बहादुर

३—निराश (उपन्यास)

लेखक—डा० तेज बहादुर

४—इलाज (कहानी-संग्रह)

लेखक—श्री 'मुकुल'

५—उदय-अस्त (श्रेष्ठ कहानी-संग्रह)

६—मुहब्बत की राहें (कहानी-संग्रह)

लेखक—श्री भैरव प्रसाद गुप्त

७—कुमुद (उपन्यास)

लेखक—राजेश गुप्त

प्रत्येक की क़ीमत बारह आने

मँगाने का पता:—माया प्रेस, इलाहाबाद।